फरवरी—2022
अखण्ड ज्योति
धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का वैज्ञानिक विश्लेषण
वर्ष—86 । अंक—2 । ₹—19 प्रति । ₹—220 वार्षिक
5 भारत के भविष्य पर ग्रहणरूपी ये समस्याएँ माँगती हैं तुरंत समाधान
12 अंत:करण को झकझोर दे—साहित्य ऐसा चाहिए
46 जापान के हिंदू देवी-देवता एवं सांस्कृतिक साम्यता
50 उत्साह एवं उल्लासपूर्ण बुढ़ापे की तैयारी
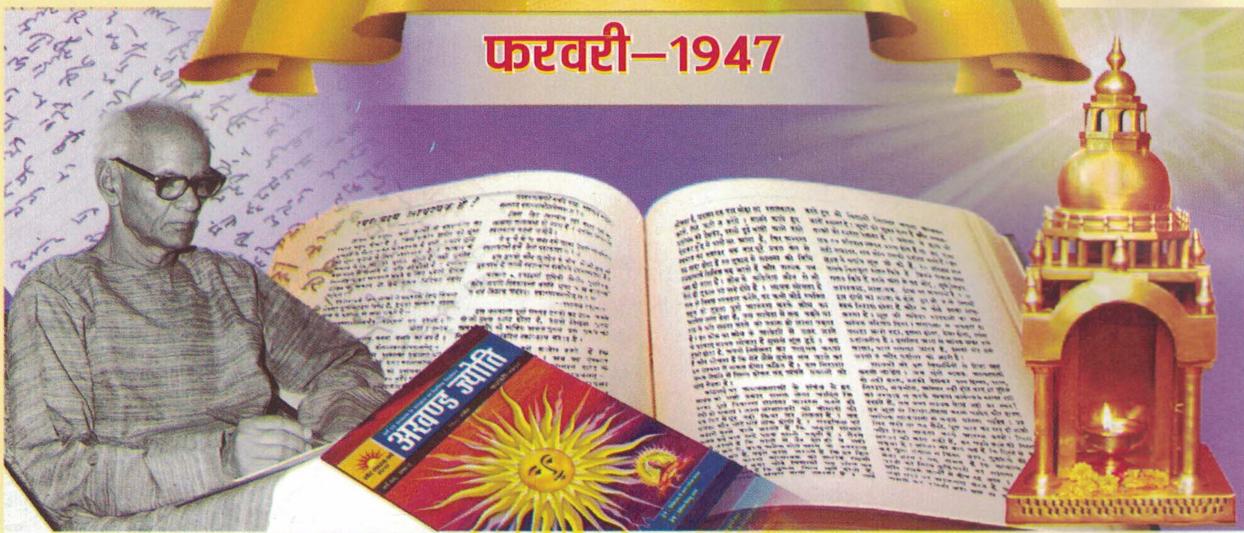
## 'आत्मनिर्माण' सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ है।

इस संसार में अनेक प्रकार के पुण्य और परमार्थ हैं। शास्त्रों में नाना प्रकार के धर्म-अनुष्ठानों का सविस्तार विधि-विधान है और उनके सुविस्तृत माहात्म्यों का वर्णन है। दूसरों की सेवा-सहायता करना पुण्यकार्य है, इससे कीर्ति, आत्मसंतोष तथा सद्गति की प्राप्ति होती है। पर इन सबसे भी बढ़कर एक पुण्य-परमार्थ है और वह है-'आत्मनिर्माण'। अपने दुर्गुणों को, विचारों को, कुसंस्कारों को, ईर्ष्या, तृष्णा, क्रोध, दाह, क्षेम, चिंता, भय एवं वासनाओं को विवेक की सहायता से आत्मज्ञान की अग्नि में जला देना इतना बड़ा धर्म है, जिसकी तुलना सहस्र अश्वमेधों से नहीं हो सकती। अपने अज्ञान को दूर करके मन-मंदिर में ज्ञान का दीपक जलाना भगवान की सच्ची पूजा है। अपनी मानसिक तुच्छता, दीनता, हीनता, दासता को हटाकर निर्भयता, सत्यता, पवित्रता एवं प्रसन्नता की आत्मिक प्रवृत्तियाँ बढ़ाना करोड़ मन सोना दान करने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हर मनुष्य अपना-अपना आत्मनिर्माण करे तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है। फिर मनुष्यों को स्वर्ग जाने की इच्छा करने की नहीं, वरन देवताओं को पृथ्वी पर आने की आवश्यकता अनुभव होगी, दूसरों की सेवा-सहायता करना पुण्य है, पर अपनी सेवा-सहायता करना इससे भी बड़ा पुण्य है। अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्थिति को ऊँचा उठाना, अपने को एक आदर्श नागरिक बनाना इतना बड़ा धर्मकार्य है, जिसकी तुलना अन्य किसी भी पुण्य-परमार्थ से नहीं हो सकती।

— पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य

संस्थापक-संरक्षक
**वेदमूर्ति तपोनिष्ठ**
**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**
एवं
**शक्तिस्वरूपा**
**माता भगवती देवी शर्मा**
संपादक
**डॉ० प्रणव पण्ड्या**
कार्यालय
**अखण्ड ज्योति संस्थान**
**घीयामंडी, मथुरा ( 281003 )**
दूरभाष नं० ( 0565 ) 2403940, 2402574
2412272, 2412273
मोबाइल नं० 9927086291
7534812036
7534812037
7534812038
7534812039
**कृपया इन मोबाइल नंबरों पर एस. एम. एस. न करें।**
**नया ईमेल-**
**akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org**
**प्रातः 10 से सायं 6 तक**

| | |
|---|---|
| वर्ष | : 86 |
| अंक | : 02 |
| फरवरी | : 2022 |
| माघ-फाल्गुन | : 2078 |
| प्रकाशन तिथि | : 01.01.2022 |
| **वार्षिक चंदा** | |
| भारत में | : 220/- |
| विदेश में | : 1600/- |
| **आजीवन ( बीसवर्षीय )** | |
| **भारत में** | : 5000/- |


# मनोविकार

जीवन में अच्छे मित्रों को ढूँढ़ने की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही आवश्यकता शत्रुओं को पहचानने की भी होती है। शत्रुओं का अर्थ मात्र उनसे नहीं है, जो हमारे ऊपर घात-प्रतिघात करते हैं, पर उन अवसरवादियों से भी है जो जब समय या अवसर मिले, तब हमारे ऊपर प्रतिघात करने में चूकते नहीं हैं। सिर में जुएँ, खाट में खटमल, गोदाम में चूहे, हवा में विषाणु, पानी में जीवाणु निरंतर बने ही रहते हैं और जब उनको अवसर मिलता है, तभी वे हमारे ऊपर कोई-न-कोई प्राणघातक संकट खड़ा कर देते हैं।

शत्रुओं में कुछ शत्रु बाहरी होते हैं और उनकी पहचान बाहर ही हो जाती है, पर इन शत्रुओं में कुछ शत्रु आंतरिक होते हैं, जो मनोविकारों के रूप में हमारे स्वभाव में सम्मिलित हो जाते हैं। आलस्य, प्रमाद, उद्विग्नता, चिंता, भय, ईर्ष्या, अविश्वास जैसे दुर्गुण ऐसे हैं कि यदि हमारी आदत में शामिल हो गए तो उनके द्वारा वो हानि फैल जाती है, जो बाहरी शत्रु भी नहीं कर पाते।

स्मरण रखना चाहिए कि चिंतन से चरित्र और चरित्र से व्यक्तित्व बनता है। चिंतन यदि दूषित हो जाए तो प्रकारांतर से कुकर्म की ही पृष्ठभूमि तैयार होती है। मनुष्य की मन:स्थिति ही तदनुरूप परिस्थितियाँ बनाती है और उन्हीं के अनुसार व्यक्ति को सुख-दु:ख से भरे प्रतिफल मिलते हैं। इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। गुण, कर्म, स्वभाव—ये तीनों ही कर्म का आधार बनते हैं। ये अच्छे स्तर के हों तो मित्र हैं और यदि इनमें विकृति घुस पड़े तो ये ही शत्रु बन जाते हैं। मनोविकाररूपी शत्रुओं पर विजय पाना ही आत्मिक संघर्ष का मूलाधार है। ❑

**▶'नारी सशक्तीकरण' वर्ष◀**

# विषय सूची



## आवरण पृष्ठ परिचय

## शांतिकुंज में आया वसंत

## फरवरी-मार्च, 2022 के पर्व-त्योहार

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| शनिवार | 05 फरवरी | वसंत पंचमी/परमपूज्य गुरुदेव बोध दिवस | मंगलवार | 08 मार्च | सूर्य षष्ठी |
| रविवार | 06 फरवरी | सूर्य षष्ठी | गुरुवार | 10 मार्च | होलाष्टक/लड्डू होली |
| शनिवार | 12 फरवरी | जया एकादशी | सोमवार | 14 मार्च | आमलकी एकादशी |
| बुधवार | 16 फरवरी | संत रविदास जयंती/पूर्णिमा | गुरुवार | 17 मार्च | होलिका दहन |
| रविवार | 27 फरवरी | विजया एकादशी | शुक्रवार | 18 मार्च | होली/धूलिवंदन |
| मंगलवार | 01 मार्च | महाशिवरात्रि | शुक्रवार | 25 मार्च | शीतलाष्टमी |
| शुक्रवार | 04 मार्च | श्री रामकृष्ण परमहंस जयंती | सोमवार | 28 मार्च | पापमोचनी एकादशी |
| | | | मंगलवार | 29 मार्च | प्रदोष व्रत |

★ **यह पत्रिका आप स्वयं पढ़ें तथा औरों को पढ़ाएँ। कुछ समय के बाद किसी अन्य पात्र को दे दें, ताकि ज्ञान का आलोक जन-जन तक फैलता रहे।** —*संपादक*

▶'नारी सशक्तीकरण' वर्ष◀

विशिष्ट सामयिक चिंतन

# भारत के भविष्य पर ग्रहणरूपी ये समस्याएँ माँगती हैं तुरंत समाधान

मानवीय प्रगति की यात्रा में समय-समय पर अपने विकास के सोपानों का सम्यक मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है, ताकि ये विवेचना की जा सके कि जिस पथ पर हम चल रहे हैं, उस पर प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ संतोषप्रद हैं अथवा नहीं? यह मूल्यांकन इस दृष्टि से भी जरूरी है; क्योंकि कभी-कभी विकास की दौड़ में, प्रतिस्पर्धा के युग में—महत्त्वाकांक्षाओं का बोलबाला इतना भीषण हो जाता है कि उद्देश्य, भावनाएँ इत्यादि उस भीड़ में खो जाते हैं। वो प्रयास जो सात्त्विक, सार्थक व सकारात्मक होने के कारण पुरुषार्थ की संज्ञा पा सकते थे—वे अहंकार से लबालब होने के कारण उन्माद का स्वरूप ले बैठते हैं।

यदि हम वर्तमान समय की समीक्षा इसी आधार पर करें तो हम शायद इसी नतीजे पर पहुँचें कि आज संभवतया कोई उन्माद इनसान के दिमाग पर चढ़ गया है, जिसके कारण वह भगवान की बनी-बनाई इस सृष्टि को उजाड़ने में, उसका विध्वंस करने में ही अपने जीवन को निरत करके बैठा है। ऐसा लगता है मानो एक पागलपन की प्रतिस्पर्धा-सी हो रही है, जिसमें गलत दिशा में चलने के लिए हर कोई दीवाना है और हर कोई कुपथ को ही अपनाना चाहता है।

जिन चीजों के ऊपर मानवता का, हमारा और हमारे बाद आने वाली समस्त पीढ़ियों का अस्तित्व निर्भर करता हो—यदि हम उन्हें ही छिन्न-भिन्न करने में, नष्ट करने में जुट जाएँ तो भला इसे विक्षिप्तता के सिवाय और क्या कहा जाए? जिस डाल पर हम बैठे हों—यदि उसे ही काटने पर हर कोई आमादा हो जाए तो भला उसे पागलपन के अतिरिक्त और क्या संज्ञा दी जाए?

आज, सर्वत्र व्याप्त पर्यावरण प्रदूषण की भयावह एवं विकराल रूप लेती समस्या को देखकर कुछ ऐसा ही कहने को मन करता है। इस समस्या के लिए मानव जिम्मेदार कैसे है या मानवकृत कार्य इसके लिए जिम्मेदार कैसे हैं—इन मुद्दों पर सोचने से पहले इस समस्या की विकरालता पर एक दृष्टि दौड़ा लेना जरूरी हो जाता है।

पर्यावरण प्रदूषण की समस्या वह समस्या है, जिसका सरोकार राष्ट्र, संस्कृति एवं विश्व—सभी के साथ है। इस समस्या का सरोकार किसी एक धर्म के साथ नहीं है, किसी एक वर्ग के साथ नहीं है, किसी एक वर्ग, जाति या देश के साथ नहीं है, वरन संपूर्ण मानवता के साथ है। यदि यह हवा साँस लेने लायक ही नहीं रह जाएगी, यह पानी पीने लायक ही नहीं रह जाएगा, यह धरती अन्न उपजाने से मना कर देगी तो उसके दुष्परिणाम संपूर्ण मानव जाति को भुगतने पड़ेंगे—किसी एक मुहल्ले को नहीं। दु:खद सत्य यह है कि आज लोग इस सत्य को देखते-जानते हुए भी इससे अपरिचित होकर अपने जीवन को जीते हुए नजर आते हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि जब दिल्ली में वायु प्रदूषण अपने चरम पर था तो भारतीय चिकित्सा परिषद् को उसे राष्ट्रीय आपदा घोषित करना पड़ा था; क्योंकि उस समय वहाँ की वायु में वायु प्रदूषण करने वाले कारकों का स्तर स्वीकार्य स्तर से 34 गुना ज्यादा था। स्पष्ट है कि वो हवा नहीं, बल्कि एक तरह से जहर ही है, जहाँ वायु प्रदूषण का स्तर इस कदर विषैला हो चुका हो। आज हम अपनी आर्थिक उपलब्धियों को गर्व से देखते नजर आते हैं, परंतु यह कैसे भूल जाते हैं कि वायु प्रदूषण के आधार पर तैयार विश्व के समस्त देशों की सूची में हम 120 देशों की सूची में 96 नंबर पर हैं। क्या यह शरम की बात नहीं है? क्या यह चिंता की बात नहीं कि भारत के महानगरों में से आज 80% की हवा विषैले स्तर की हो चली है?

आज वायु प्रदूषण भारत में होने वाली मौतों के कारणों में पाँचवाँ सबसे बड़ा कारण है। कहने का अर्थ यह है कि युद्ध अथवा आतंकवाद से उतने लोग नहीं मर रहे, जितने वायु प्रदूषण से मर रहे हैं। अकेले सन् 2012 में 92 लाख लोगों की मौत की वजह वायु प्रदूषण था। कल्पना करके देखें कि आज दिल्ली क्षेत्र (एन.सी.आर.) के लगभग 10 लाख बच्चे वायु प्रदूषण के कारण अपने श्वसन तंत्र को लगभग पूर्णरूपेण नष्ट करके बैठे हैं।

हवा हमारे देखते-देखते जहरीली हो चली है। पानी में फैलता प्रदूषण भी कहाँ कम है? कुछ स्थानों पर गंगा की स्थिति यह है कि वहाँ पानी में डाले जा रहे क्रोमियम, निकिल के कारण बंदरों को कैंसर जैसे रोगों का सामना करना पड़ रहा है। अनुभव लगाया जा सकता है कि इसका जो प्रभाव इनसानों पर पड़ रहा होगा—वो कैसा होगा?

पर्यावरण की विषाक्तता का आलम यह है कि आसमान से होने वाली वर्षा भी अब खुशी, आनंद, उत्सव का कारण नहीं रही, बल्कि वह तो जहर से भरी हुई है। सन् 1990 में भारत के कारखानों से उत्सर्जित होने वाला सल्फर लगभग 4400 किलोटन था, जो अब 19,000 किलोटन के करीब पहुँच चुका है। यह सल्फर वर्षा जल के साथ मिलकर एसिड के रूप में धरती पर गिरता है और इस एसीडिक रेन या अम्लीय वर्षा के कारण जलीय पशु मरते हैं। औषधियाँ एवं वनस्पतियाँ नष्ट होती हैं। यहाँ तक कि इमारतें नष्ट होती हैं तो उसका जो प्रभाव एवं असर इनसानों पर पड़ता होगा या पड़ रहा है—उसके विषय में क्या लिखा जाए?

यदि गंभीर प्रश्न पर विचार किया जाए अर्थात विचार इस पर किया जाए कि पर्यावरण प्रदूषित क्यों है? यह बारिश जहरीली क्यों है? नदियाँ सूख क्यों रही हैं? ग्लेशियर पिघल क्यों रहे हैं? जड़ी-बूटियाँ समाप्त क्यों हो रही हैं? मौसम बेकाबू क्यों हैं—तो इन सबके पीछे जो एक प्रमुख कारण, भारत के परिप्रेक्ष्य में नजर आता है तो वह है—भारत की बेतहाशा, बिना नियंत्रण के बढ़ती जनसंख्या।

सन् 1947 में, भारत को स्वतंत्रता मिलने के समय—भारत की आबादी 36 करोड़ थी, जो आज बढ़कर 135 करोड़ के करीब हो गई है अर्थात तब से लेकर आज तक हम लगभग 3.5 गुना ज्यादा हो गए हैं। आजादी के समय जितने संसाधन एक व्यक्ति के पास थे—उतने साधनों में लगभग एक पूरे परिवार को आज अपना गुजारा करना पड़ता है।

फिर यह जो संख्या नित्यप्रति बढ़ती ही चली जा रही है—वह संख्या जीवित इनसानों की बढ़ रही है, कुरसी, मेज इत्यादि की नहीं। जीवित व्यक्तियों की जीवित आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए संसाधनों के भंडार पर हमले करने होते हैं। जीवित इनसान को रहने के लिए घर चाहिए, इलाज के लिए अस्पताल चाहिए, काम करने के लिए ऑफिस चाहिए, पढ़ने के लिए विद्यालय व विश्वविद्यालय चाहिए और इसीलिए मॉल, एपार्टमेंट, कारखाने—इनकी संख्या आबादी बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाती है।

इनको बनाना है तो पेड़ काटने होंगे—पेड़ कटेंगे तो ही तो आवास व कारखाने बन सकेंगे और जब पेड़ कटते हैं तो क्या होता है? धरती की उर्वरता नष्ट होती है, वर्षा की दर खतम होती है और खनिजों का भंडार लुप्त होता है। इसलिए देखने में अलग-अलग लगने वाली ये समस्याएँ वस्तुत: एक ही समस्या के दो पहलू कहे जा सकते हैं।

इसी अनियंत्रित आबादी का दुष्परिणाम हमें पर्यावरण प्रदूषण के रूप में देखने को मिलता है। इसी के दुष्प्रभावों के रूप में हम लोगों का गिरता स्वास्थ्य देखते हैं। 30-30 साल के लोगों को हृदयाघात होते हुए एवं 10-10 साल के बच्चों को कैंसर से तड़पते देखते है। यह जो स्थिति, वो तो आज की तारीख में है। समझदारी का तकाजा यह है कि इन सभी कारणों पर तत्काल रोक लगाई जाए, ताकि हम एक साफ, स्वच्छ व स्वस्थ दुनिया अगली पीढ़ी को सौंप सकें।

**इस विषय पर हुए शोधों के निष्कर्ष तो यहाँ तक बोलते हैं कि यदि हम उन सभी कारणों पर रोक लगा दें, जिनके कारण आज ये समस्याएँ विकराल रूप लिए खड़ी हैं—वाहनों को बदल दें, खुले में सिगरेट पीने पर रोक लगा दें, प्रदूषण के जिम्मेदार कारखानों को बंद कर दें—तब भी स्थिति को सामान्य होने में 30 से अधिक साल लग जाएँगे।**

दुर्भाग्यपूर्ण तो यह है कि इन कारणों पर रोक लगाना तो दूर—हम तो अपने पतन की गति तीव्र-से-तीव्र करते जा रहे हैं। पेड़ हम बेतहाशा काट रहे हैं, आबादी बढ़ती ही जा रही है, कारखाने खुलते ही जा रहे हैं, प्रदूषण के कारणों को हम बढ़ाते ही जा रहे हैं। यदि इन नीतियों को समय रहते सुधारा न गया तो इनका परिणाम विनाश, विध्वंस एवं विप्लव के अलावा क्या मिलने वाला है?

हो सकता है कि शेष समाज को चेतने में समय लगे, परंतु गायत्री परिवार के जाग्रत समुदाय को इस विषय में तुरंत और स्पष्ट कार्य करने की जरूरत है। विद्यालयों से लेकर अस्पतालों तक और घरों से लेकर शॉपिंग कांप्लेक्स तक भारत एवं विश्व के भविष्य के लिए जरूरी इस चिंतन को लेकर के जाने की आवश्यकता आज आन पड़ी है। भारत एवं मानवता का भविष्य इस आशा के साथ हमारी ओर देखता है कि हम समय पर

कुछ सार्थक निर्णय ले पाने की स्थिति में आ सकें। आशा ही नहीं, बल्कि विश्वास है कि इस जिम्मेदारी को हम सम्यक तरह से निभा सकेंगे।

यहाँ इन बातों को लिखने का उद्देश्य यह है कि परमपूज्य गुरुदेव द्वारा वर्षों पहले की इस स्थिति पर दृष्टि दौड़ा देने के बाद उनके समाधान के लिए एक सशक्त व्यवस्था शांतिकुंज में बनाई गई थी। पर्यावरण संरक्षण को परमपूज्य गुरुदेव ने शांतिकुंज द्वारा चलाए जा रहे समस्त आंदोलनों में से एक के रूप में शामिल किया और वृक्ष गंगा अभियान, तीर्थ शुद्धि अभियान, जल शुद्धि अभियान, आरण्यकों की स्थापना जैसे अभूतपूर्व प्रकल्प उसके माध्यम से विनिर्मित किए। आज की परिस्थितियों में परमपूज्य गुरुदेव द्वारा तब उठाए गए कदम अब अत्यंत ही सामयिक नजर आते हैं। ❑

**घटना तब की है जब महाराजा विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे। उन्होंने अपने मंत्रियों को प्रजा का काम तुरंत करने की आज्ञा दी हुई थी। एक दिन एक आदमी विजयपाल नामक मंत्री के घर शुक्रवार की मध्यरात्रि को पहुँचा। दरवाजा खटखटाने पर मंत्री ने अंदर से कह दिया—"मैं अभी मजबूर हूँ, किसी काम में व्यस्त हूँ। अभी बाहर नहीं आ सकता। कृपया दूसरे दिन कभी भी आ जाइएगा।"**

**उस व्यक्ति ने दूसरे दिन महाराज विक्रमादित्य से विजयपाल मंत्री की शिकायत की। विक्रमादित्य ने पूरा घटनाक्रम सुना तो नाराज होकर विजयपाल से ऐसा करने का कारण पूछा। मंत्री ने कहा—"मेरी कुछ मजबूरी थी। वह मेरा राज है। कृपया उसे मेरे तक रहने दीजिए।" परंतु विक्रमादित्य ने उत्तर पाने की जिद की।**

**इस पर विजयपाल ने कहा—"महाराज! सप्ताह के छह दिन मैं कार्य में बहुत व्यस्त रहता हूँ। गुरुवार की रात को समय निकालता हूँ। मेरे पास कपड़ों का एक ही जोड़ा है, उसे मैं गुरुवार की रात धोता हूँ उस हालत में मैं बाहर कैसे आ सकता हूँ? फिर नित्यकर्म भी करने होते हैं। अन्य दिनों उसके लिए भी समय नहीं मिलता। मेरा रहस्य बस, यही है।"**

**विक्रमादित्य ने सुना तो परमात्मा को धन्यवाद दिया कि उनके राज्य में ऐसे मंत्री भी मौजूद हैं, जो अपनी जिम्मेदारी बखूबी समझते हैं। वे न तो प्रजा के प्रति लापरवाह हैं और न ही ईमानदारी को भूलते हैं। ऐसे कर्त्तव्यपरायण कर्मचारियों से किसी राष्ट्र की प्रगति सुनिश्चित हो पाती है।**

# भारतीय संस्कृति में चरित्र की अवधारणा

चरित्र निर्माण भारतीय संस्कृति की सदा से धुरी रहा है। भारतीय संस्कृति की विशिष्टता और इसकी महानता का प्रमुख आधार इसके चरित्रनिष्ठ नागरिक, शासक एवं गणमान्य जन रहे हैं, जिनके आधार पर यहाँ के नागरिक आदर्शों की मिसाल रहे, परिवार नररत्नों की खदान बने और पूरा समाज सुख, समृद्धि एवं शांति के उच्चतम प्रतिमानों को छूता हुआ पूरे विश्व में अपनी श्रेष्ठता एवं अद्वितीयता के साथ प्रतिष्ठित रहा।

मध्यकाल में चारित्रिक दुर्बलता के कारण जब सामाजिक ताना-बाना कमजोर हुआ तो ऐसे में विदेशी आक्रांताओं को इसमें घुसपैठ का मौका मिला और परिणामस्वरूप लंबे अंतराल तक इसने दासता का दंश झेला। पुन: इसके चरित्रनिष्ठ नेतृत्व एवं जाग्रत जनचेतना के आधार पर इसने इस दासता से मुक्ति पाई है और शनैः-शनैः अपनी सनातन गौरव-गरिमा में प्रतिष्ठित होने की ओर अग्रसर है, लेकिन अभी भी बहुत कार्य शेष है।

आवश्यकता है अपने पुरखों की दी गई शिक्षाओं एवं सीखों को पुन: स्मरण करने की, उन्हें आत्मसात् करने की व उन्हें जीवन में धारण कर सांस्कृतिक संक्रमण के इस दौर में देव संस्कृति के सच्चे संवाहक बनकर अपना सकारात्मक योगदान देने की।

चरित्र निर्माण करने वाले दैवी तत्त्व भारतीय संस्कृति में भरे पड़े हैं। जिस संस्कृति का जीवन दर्शन व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण को सिद्ध करता हो, जो **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** एवं **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के आदर्शों की सीख देता हो, जो धर्ममय अर्थ एवं काम के आधार पर मोक्ष का मार्ग दिखाता हो, पूर्णता का पथ प्रशस्त करता हो, जिसमें सेवा और त्याग के आदर्श—संस्कारों में घुट्टी की तरह पिलाए जाते हों, उसके लिए चरित्र निर्माण मानवीय विकास की सहज स्फूर्त प्रक्रिया रही है।

वेदों का स्पष्ट आदेश है कि **'ऋतस्य पथां प्रेत'** अर्थात सत्य और पवित्र मार्ग पर चलो। वेदों में प्रार्थना के स्वर स्पष्ट हैं कि मेरे जीवन यज्ञ के अग्रणी अग्निदेव! मुझे दुश्चरित्र से सब ओर से बचा और सुचरित्र में मेरी प्रीति और भक्ति हो। मैं उसी का सेवन करूँ। देवों और देवोपम मानवों का अनुसरण कर मैं अपने जीवन में उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होऊँ और फिर जीवन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित होऊँ।

पूरे भारत को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने वाले आदि शंकराचार्य के शब्दों में चरित्र, शील और सदाचार पर्यायवाची शब्द हैं। यही चरित्रनिष्ठा किसी भी व्यक्ति के जीवन को मूल्यवान बनाती है, श्रद्धापात्र बनाती है।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार विद्वान अपनी विद्वत्ता से प्रशंसा का पात्र हो जाता है, परंतु चरित्रवान मनुष्य अपने चरित्र के आदर्श द्वारा लोगों का श्रद्धाभाजन बनकर अपने प्रति आदरभाव उत्पन्न कर उनके हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इसीलिए भगवद्गीता हर जिम्मेदार एवं विचारशील व्यक्ति को श्रेष्ठ आचरण के लिए कहती है; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण के अनुसार ही अन्य पुरुष बरतते हैं तथा वे उन्हीं के आदर्शों का अनुगमन करते हैं और कीर्ति में धब्बा लगना भारतीय संस्कृति के अनुसार मृत्यु से बढ़कर समझा जाता है। इसीलिए चरित्रनिष्ठा का भाव भारतीय संस्कृति में अग्निज्वाल की भाँति धमनियों में प्रवाहित होता रहा है—जिसकी अनगिनत, मिसालें हर युग में जनमानस को श्रेष्ठता के पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही हैं।

इसी आधार पर मनुस्मृति के अनुसार इस आर्यावर्त में उत्पन्न मनुष्य अपने चरित्र के कारण संसार के लोगों के आदर्श होते थे। रामायण में चारित्रिक रूप से अनुकरणीय तमाम आदर्श पात्र मिलते हैं। पिता के रूप में दशरथ, माता के रूप में कौशल्या, पुत्र के रूप में श्रीराम एवं श्रवण कुमार, भाई के रूप में लक्ष्मण, भरत और पत्नी के रूप में माता सीता। सब चारित्रिक दृष्टि से अपने व्यक्तित्व की अप्रतिम छाप छोड़ते रहे हैं।

वाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि अयोध्या में एक भी कामी यानी दुराचारी, कंजूस, क्रूर, अशिक्षित और नास्तिक

पुरुष नहीं दिखाई देता था। सबके सब स्त्री-पुरुष धार्मिक, संयमी, सदाचारी, प्रसन्न और निर्मल हृदय थे। कोई गृहस्थ अग्निहोत्रादि नियमों का पालन न करने वाला, क्षुद्रवृत्ति, चोर, दुराचारी और व्यभिचारोत्पन्न अयोध्या नगरी के अंदर न था।

सब अयोध्यावासी ज्ञानसंपन्न, पवित्र और मिलकर विचार करने वाले थे। उस सारे अयोध्या नगर में ही नहीं, सारे राष्ट्र में भी कोई असत्यवादी पुरुष नहीं था। कहीं दुष्ट और व्यभिचारी परस्त्री संग करने वाला पुरुष तक वहाँ दिखाई न देता था। इस प्रकार अयोध्या का नगर और सारा राष्ट्र अत्यंत शांति से युक्त एवं अपराध से मुक्त था।

दर्शन के चरमोत्कर्ष काल में छांदोग्य उपनिषद् में ऋषि के स्वर चरित्रनिष्ठा के आदर्श को मुखरित करते हुए कहते हैं—मेरे देश में कहीं कोई चोर, कृपण, मद्यपानी, दैनिक अग्निहोत्र न करने वाला, मूर्ख और स्वेच्छाचारी व्यक्ति निवास नहीं करता, फिर स्वेच्छाचरण करने वाली स्त्री तो भला हो ही कैसे सकती है।

यही भावप्रवाह इतिहास के स्वर्णिम पलों में विद्यमान था जब पश्चिम, भारत से आशा भरी दृष्टि से कुछ सीखने व पाने की इच्छा से पधार रहा था। लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व 303 ई०पू० मौर्यकाल में सेल्यूकस ने सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के शासन में अपना राजदूत मैगस्थनीज पाटलिपुत्र भेजा था। उसने अपनी पुस्तक इंडिका में लिखा है—यहाँ के लोग अपने घरों में ताला लगाने की प्रथा से अपरिचित थे। उनका ज्ञान, वैभव अद्भुत गौरवशाली था। भारतीय समाज के छोटे वर्ग में भी सर्वत्र ईमानदारी भरी पड़ी थी।

629 ई० में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत पधारे और उनके शब्दों में—भारतवासी बड़े सत्यवान और प्रतिष्ठावान होते हैं। वे पाप-पुण्य का सदा ध्यान रखते हैं। उनका व्यवहार मधुर और नम्र होता है। देश में अपराधियों और विद्रोहियों की संख्या बहुत कम है। जब कोई व्यक्ति कानून भंग करता है तो उसके विरुद्ध तत्काल कार्रवाई की जाती है। इसी तरह गुप्तकाल में अन्य चीनी यात्री फाह्यान ने भारत में नागरिकों की उच्च चरित्रनिष्ठा का वर्णन किया है।

औरंगजेबकालीन इतिहासकार शफी खाँ शिवाजी महाराज की चरित्रनिष्ठा का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि शिवाजी मराठा ने यह नियम बना रखा था कि जहाँ कहीं भी उनके सिपाही युद्ध के दौरान पहुँचें, वहाँ किसी मसजिद या खुदा की किताब या किसी स्त्री को हानि न पहुँचाएँ। जब कभी पवित्र कुरान की कोई प्रति उनके हाथ में आ जाती थी तो वे उसे आदर से रखते थे और अपने किसी मुसलमान अनुचर को दे देते थे। इसी तरह शिवाजी के सभी सैनिक तथा शिविर चरित्र संबंधी सभी दोषों से मुक्त थे। विजित प्रदेशों की स्त्रियों को वे छूते तक न थे। शास्त्रों में वर्णित '**मातृवत् परदारेषु**' का आदर्श यहाँ जीवंत था।

महाभारत के उद्योग पर्व, 132/17 में स्पष्ट वर्णन है कि शासक के चरित्र के उत्थान या पतन से ही किसी राष्ट्र की नैतिकता या अनैतिकता, त्याग एवं तपस्या का पता चलता है। राजा या प्रशासक जब पापी होता है, तब प्रजा पापिष्ठ हो जाती है और जब धर्मनिष्ठ होता है, तब प्रजा भी धार्मिक हो जाती है।

---

**परमात्मा के बनाए सभी दिन समान रूप से शुभ एवं पवित्र है। इनमें शुभ अथवा अशुभ का आरोपण मनुष्य स्वयं अपने विचारों से कर लेता है।**

---

यहाँ '**यथा राजा तथा प्रजा**' की उक्ति चरितार्थ होती है। कवि शिरोमणि कालिदास के शब्दों में—जहाँ अपूज्य पुरुषों की पूजा होती है और पूज्य पुरुषों की पूजा में विघ्न उत्पन्न होता है तो वहाँ अकाल, मृत्यु एवं भय तीन चीजें होती रहती हैं।

भारत ने ऐसे ही चारित्रिक दृष्टि से दूरदर्शिताहीन एवं निर्बल शासकों के कारण दासता का सदियों लंबा पीड़ादायक गुलामी भरा त्रासदीपूर्ण दौर देखा, लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। भारत पुन: अपनी सांस्कृतिक गौरव-गरिमा के साथ विश्वपटल पर प्रतिष्ठित होने की राह पर अग्रसर है। चरित्रनिष्ठा का सनातन प्रवाह पुन: हमारी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। सौभाग्यशाली हैं वो सभी सृजनसैनिक, जो देव संस्कृति के संवाहक बनकर इस पुनीत कार्य में लगे हैं और सांस्कृतिक नवनिर्माण की पटकथा लिख रहे हैं। ❑
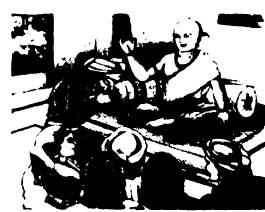
# बाह्य नहीं, आंतरिक वैराग्य से होता है आत्मबोध

हिमालय के दिव्य वातावरण में वर्षों तक तप-साधना करने के पश्चात संत प्रेमदास को आत्मसाक्षात्कार हुआ था, आत्मबोध हुआ था, आत्मज्ञान हुआ था। आत्मबोध से उनका अंतस् अलौकिक आनंद से भर आया था। वे पल-पल उसी परम आनंद की अनुभूति करते थे। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर संत प्रेमदास अक्सर भ्रमण करते हुए लोगों को अध्यात्म के पथ पर चलने को प्रेरित करते थे।

आज उसी क्रम में भ्रमण करते हुए वे एक गाँव में पहुँचे थे और उन्हें सुनने आए हजारों लोगों को संबोधित करते हुए वे कह रहे थे—''शाश्वत सुख और आनंद कहीं और नहीं, बल्कि हमारे भीतर ही है। उससे अनजान होने के कारण व्यक्ति जीवन भर सुख की तलाश में इधर-उधर भटकता फिरता है। वह कभी भौतिक भोग पदार्थों में सुख ढूँढ़ता है, तो कभी विषयभोगों में सुख ढूँढ़ता है, पर फिर भी वह अतृप्त ही रहता है। क्यों? क्योंकि विषयभोगों व भोग पदार्थों से प्राप्त ऐंद्रिक सुख स्थायी नहीं, वरन क्षणभंगुर होता है, इसलिए इसे प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति अतृप्त ही रहता है।

''इसके विपरीत जब व्यक्ति योगाभ्यास करता है, जब वह भगवद्उपासना, भजन, ध्यान, सुमिरण, स्मरण, सत्संग, स्वाध्याय आदि करता है तो शाश्वत सुख व आनंद का झरना उसकी आत्मा से ही फूट पड़ता है। असीम आनंद, परम आनंद का झरना उसके अंदर से ही प्रवाहित होने लगता है। भौतिक भोग पदार्थों व विषयभोगों से प्राप्त सुख क्षणभंगुर व अधूरा होता है, पर आत्मा से प्रस्फुटित आनंद पूर्ण होता है, आत्मा से निस्सृत आनंद, स्थायी होता है।

''उसे प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति हर अवस्था में आनंद-ही-आनंद में होता है। उसे स्थायी रूप से तृप्ति का अनुभव होता है। उसके मन में घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, जैसी नकारात्मक भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं और उसके हृदय में करुणा, प्रेम, संवेदना आदि दिव्य भावनाएँ उमड़ने, उमगने लगती हैं। भौतिक व आध्यात्मिक, दोनों ही दृष्टि से उसका जीवन पूर्ण होता है, सुखी होता है एवं आनंदित होता है। यदि तुम्हें शाश्वत सुख-शांति चाहिए तो भगवद्उपासना करो, ध्यान करो, भजन करो और शिव भाव से जीवमात्र की सेवा करो।''

इसके साथ ही संत प्रेमदास जी ने वाणी को विराम दिया, पर उसी समय सत्संग में बैठे एक व्यक्ति ने विनती करते हुए कहा—''महात्मन्! आपके अमृत वचनों ने आज हम सबकी आँखें खोल दी हैं, पर मेरे मन में एक प्रश्न है, जिसका आपसे समाधान चाहता हूँ। प्रश्न यह है कि घर-गृहस्थी का त्याग कर कहीं अन्यत्र जाकर भगवद्उपासना कैसे करें? क्योंकि तब घर-गृहस्थी का संचालन कैसे कर सकेंगे। इसलिए आप कोई ऐसा उपाय बताएँ जिससे घर-गृहस्थी का कुशल संचालन भी करते रहें, घर-गृहस्थी का त्याग भी न करना पड़े और भगवद्उपासना भी निर्विघ्न, रूप से होती रहे।''

इस पर संत प्रवर ने कहा—''वत्स! शाश्वत सुख-शांति पाने के लिए भगवद्उपासना अर्थात भगवद्ध्यान, जप, स्वाध्याय आदि करने होते हैं और इसे करने के लिए घर-गृहस्थी का त्याग करना आवश्यक नहीं है। आपको संसार को छोड़कर अपने निजी कर्त्तव्यों का त्याग कर वैरागी बनना नहीं है, बल्कि मन से वैरागी होना है, बाह्य रूप से नहीं, बल्कि आंतरिक रूप से वैराग्य धारण करना है।''

वे बोले—''अगर आपके अंदर अतृप्त इच्छाएँ हैं, तृष्णा है, वासना है, फिर तो चाहे आप कहीं भी चले जाइए—वन में, उपवन में, गुफाओं में, कंदराओं में, वो इच्छाएँ वहाँ भी आपका पीछा करेंगी। इसलिए बाहरी वैराग्य नहीं, आंतरिक वैराग्य महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए अपने दुर्गुणों से ऊपर उठना होगा। भारत में ऐसे अनेक गृहस्थ भक्त, साधक, उपासक, संत हुए हैं, जो गृहस्थ आश्रम में रहते हुए, भगवद्उपासना करते हुए आत्मबोध की परम उपलब्धि प्राप्त कर सके।

''अस्तु आदर्श स्थिति व उपाय तो यही है कि आप अपने घर में नित्य कुछ पल के लिए ही सही

भगवद्उपासना, जप, ध्यान, स्वाध्याय अवश्य करें। प्रारंभ में उपासना करते हुए मन में इधर-उधर के ढेर सारे विचार आते-जाते रहेंगे, पर इनसे घबराना नहीं है। विचारों की आँधी तो मन में आती-जाती रहेगी। जब वर्षों से बंद किसी घर को खोला जाता है और उसमें झाड़ू लगाई जाती है तब धूल फर्श से ऊपर उठकर ऊपर तक फैल जाती है, पर इससे झाड़ू लगाना बंद तो नहीं कर दिया जाता। हाँ, धीरे-धीरे धूल जैसे ही कम होती जाएगी, धूल उड़ना भी कम होता जाएगा।

''वैसे ही उपासना करते हुए, ध्यान करते हुए, जप करते हुए प्रारंभ में मन में कई प्रकार के विचारों का प्रवाह उमड़ता रहेगा। कई विचार तो हमारे अचेतन मन में दबे हुए कर्म-संस्कारों, अतृप्त इच्छाओं, वासनाओं आदि के कारण होते हैं और कुछ विचार हमारे वर्तमान जीवन में हमारे द्वारा किए जा रहे शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे कर्मों से प्रेरित होते हैं।

''उपासना में, ध्यान में, जप में, स्वाध्याय में नियमित रहने से हमारे चेतन व अचेतन, दोनों का परिष्कार होने लगता है और मन विचारों से मुक्त होकर शून्यावस्था को प्राप्त होता है। मन की वृत्तियाँ, चित्त की वृत्तियाँ समाप्त होने लगती हैं और फिर उसी शून्यावस्था, चित्त की शुद्ध अवस्था में, मन की पवित्र अवस्था में हमारी आत्मा में परमात्मा का ज्ञान प्रकट होता है और परमात्मा का अंश होने के कारण ही आत्मा से ही दिव्य ज्ञान व आनंद प्रकट होने लगते हैं।

''हर व्यक्ति चाहता है कि उसे दु:ख से मुक्ति मिले व सुख की प्राप्ति हो। साधारण व्यक्ति को लगता है कि सुख प्राप्त करने के लिए बाहरी मार्ग ही है, भौतिक सुख-साधन ही हैं, पर भगवद्उपासक, भगवद्भक्त को भगवद्उपासना करते-करते अंतत: यह अनुभव होने लगता है कि सुख और आनंद का स्रोत, आनंद का अक्षय स्रोत उसके अंदर स्थित आत्मा और परमात्मा ही हैं।

''अस्तु भगवद्उपासना व योगाभ्यास करते-करते अनायास ही वैराग्य भाव जागने लगता है, बाह्य विषयों के प्रति आसक्ति व लगाव मिटने लगता है और उपासक के हृदय में भगवान के प्रति परम आसक्ति, परम अनुराग, परम प्रेम पनपने लगता है।

''दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम अपने जीवन में बुरे कर्म, अशुभ कर्म न करें; क्योंकि ऐसा करने से मन मलिन होता है और उपासना में मन नहीं लगता; क्योंकि बार-बार हमारे द्वारा किए गए बुरे कर्म, अशुभ कर्म के विचार हमें उपासना की गहराई में, ध्यान की गहराई में उतरने में बाधाएँ पैदा करते हैं और बुरे कर्मों के बुरे फल भी भोगने ही पड़ते हैं।

''हम सदा दूसरों का भला करें, दूसरों के लिए भला सोचें तो इससे चित्त-शुद्धि भी होगी, मन पवित्र भी होगा, दूसरों का भला करने का सुख भी प्राप्त होगा और स्वयं के जीवन में भी शुभ होगा; क्योंकि जो दूसरों का भला करता है या भला चाहता है, ईश्वर उसका भला अवश्य करता है।

''इसके साथ ही जीवन में समय-समय पर दिव्य तीर्थ क्षेत्रों का दर्शन व सेवन भी किया करें। जीवन में गृहस्थ आश्रम की जिम्मेदारियों से मुक्त होकर कभी-कभी प्रकृति की सुरम्य वादियों में भी प्रवास करें। इससे प्रकृति की निश्छलता, निष्कपटता भी स्वयं के भीतर आने लगेगी।

''सिद्ध-योगियों की तप:स्थली पर जाने से व्यक्ति वहाँ पर संव्याप्त आध्यात्मिक ऊर्जा से ओत-प्रोत हो उठता है। अत: कभी-कभी ऐसे दिव्यस्थलों का भ्रमण व वहाँ प्रवास करने का प्रयास करें। इससे साधना में, ध्यान में, भक्ति में गति आएगी और आप फिर गृहस्थ आश्रम में रहते हुए वह सब प्राप्त कर सकेंगे, जिसके लिए यह देवदुर्लभ मनुष्य तन प्राप्त हुआ है।''

**यौवन का अर्थ है ऐसी युवा मन:स्थिति, जिसमें सदा उत्साह, उमंग उमड़ते हों।**

संत प्रवर ने उस एक प्रश्न के उत्तर में ही मानो वहाँ उपस्थित सभी लोगों के मन में सहज रूप से उठने वाले प्रश्नों का समाधान कर दिया। सबने संत प्रवर को साष्टांग नमन किया और पुन: पधारने का आग्रह भी। सबके मन की जिज्ञासाओं का उचित समाधान हुआ और दुर्लभ मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ।

इस प्रकार लोगों को अपने अमृत उपदेश से नहलाने के पश्चात संत प्रेमदास जी वहाँ से कहीं अगले गंतव्य की ओर चल पड़े। संत प्रेमदास की जय-जयकार करते हुए लोग अपने मन में एक नए संकल्प, नई जीवन-दृष्टि व आध्यात्मिक जीवन जीने की दिव्य प्रेरणा लिए घर लौटे। ❑

पर्व विशेष

# अंत:करण को झकझोर दे साहित्य ऐसा चाहिए

महापुरुषों के जीवन प्रसंग सभी के लिए अनुकरणीय होते हैं। उनमें से भी वे महापुरुष जो संघर्षों, कठिनाइयों, अभावों की परिस्थितियों में अपने लिए स्थान नियत करते हैं—वे सभी के लिए आदरणीय बन जाते हैं। विपन्न और प्रतिकूल परिस्थितियों के मध्य जीवन की राहों को निर्धारित करने का कार्य निश्चित रूप से अविस्मरणीय व्यक्तित्वों के द्वारा ही संपन्न किया जाता है। महापुरुषों के जीवन का उद्देश्य ही ऐसी शिक्षाओं को अपने कृतित्व के माध्यम से सभी के लिए प्रस्तुत करना होता है। परमपूज्य गुरुदेव का जीवन एक ऐसे ही अलौकिक व्यक्तित्व का जीवन था।

एक बार परमपूज्य गुरुदेव से मिलने के लिए एक प्रसिद्ध लेखक आए। भारतीय इतिहास के वे एक सुप्रसिद्ध विद्वान थे और उनकी लिखी पाठ्यपुस्तकें अनेक विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग हुआ करती थीं, पर जैसा शास्त्रों में लिखा गया है—'**मनीषिनस्तु भवन्ति, पावनानि न भवन्ति**' अर्थात मनीषी तो कई होते हैं, परंतु वे पवित्र और पावन भी हों, ऐसा जरूरी नहीं।

उनके स्वयं के साथ भी कुछ ऐसी ही बात थी, पर अच्छी बात यह थी कि वे स्वयं की इस सीमितता से परिचित भी थे। किसी आध्यात्मिक श्रेष्ठ व्यक्तित्व से जीवन बोध को प्राप्त करने का भाव उनके मन में कहीं गहरे से स्थापित था। यही सोचते हुए वे उस दिन पूज्य गुरुदेव से मिलने शांतिकुंज आए थे।

परमपूज्य गुरुदेव से मिलते ही उनको एक अलौकिक अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि किसी वैदिककालीन ऋषि से उनकी मुलाकात हो रही है। पूज्य गुरुदेव की समीपता में उनको ऐसे सात्त्विक वातावरण का बोध हुआ कि उनकी आँखों से आँसू झरने लगे। ऊपर से पूज्य गुरुदेव की आत्मीयता ने उनको और भी ज्यादा भावविभोर कर दिया। बहुत सारे प्रश्न वे मन में सोच करके आए थे—उनसे अब उनको पूछ पाना भी संभव नहीं हो पा रहा था।

उनके मन के भावों को पढ़ते हुए परमपूज्य गुरुदेव ने कहना आरंभ किया। वे बोले—"बेटा! तुमको भगवान ने विशिष्ट प्रतिभा देकर के भेजा है। इसका उपयोग समाज को सही दिशा देने में लगाना। बुद्धिमत्ता अकेली काफी नहीं होती, इसके साथ अंतर्निहित शक्तियों का परिशोधन भी आवश्यक होता है। उसकी शुद्धि के बाद जब उच्चस्तरीय, उत्कृष्ट चिंतन निखरकर आता है तो उसके माध्यम से सृजा गया साहित्य, जीवन की समस्त विकृतियों का निराकरण कर पाने की सामर्थ्य रखता है। तुम अपने जीवन को इसी दिशा में लगाना, ताकि नवयुग के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ तैयार हो सकें।"

नवयुग के विषय में सुनकर उनके मन में जिज्ञासा जगी और उन्होंने पूज्य गुरुदेव से पूछा—"गुरुदेव! नवयुग के निर्माण में साहित्य किस तरह से भूमिका निभा सकता है?" पूज्य गुरुदेव अविलंब बोले—"बेटा! नवयुग जब भी आएगा तो आएगा वह विचारों के शोधन से ही। आने वाले समय की क्रांति लहू और लोहे की नहीं, बल्कि विचारों के परिवर्तन की क्रांति होगी। सतयुग के समाज का निर्माण सद्विचारों की प्रतिष्ठा से ही संभव है। तुम खुद सोचकर के देखो कि आज साहित्य के नाम पर कैसे कुत्सित विचारों की भीड़ बाजार में उपलब्ध है? क्या कारण है कि जो लेखनी अंत:करण को पवित्र बनाने वाले विचारों का माध्यम बन सकती थी—वह निषेधात्मक चिंतन, क्रोधित कर देने वाले भावों और कुत्सित व दमित कामनाओं को भड़काने का कार्य करती है?"

परमपूज्य गुरुदेव द्वारा कहे जा रहे सत्य को नकार पाना उनके लिए संभव न था। वे खुद भी साहित्य के इस विकृत स्वरूप को देखकर क्षुब्ध थे, व्यथित थे। मन-ही-मन वे सोचने लगे कि गुरुदेव बिलकुल सही कह रहे हैं। इस संसार में कई ऐसी रचनाएँ आज रची जा रही हैं, जो मात्र कलह, द्वेष, क्रोध, आक्रोश, कामुकता को भड़काने का कार्य करती हैं।

यदि उन्होंने विधेयात्मक चिंतन को जन्म दिया होता, सत्साहित्य रचा होता तो कोई कारण नहीं है कि एक सार्थक परिणाम नहीं निकल करके आया होता। कार्ल

मार्क्स के चिंतन ने पूँजीवाद के किले को गिरा दिया, हैरियट स्टो के एक उपन्यास ने रंगभेद पर कड़ा प्रहार किया तो फिर क्या आज की परिस्थितियों में ऐसा कर पाना संभव नहीं है ?

उनके मन में जन्म लेते वैचारिक प्रवाह को अनुभव करते हुए पूज्य गुरुदेव बोले—"बेटा! तुम सही सोच रहे हो। बुद्ध के द्वारा प्रदत्त विचारक्रांति, गांधी-पटेल द्वारा प्रदत्त स्वतंत्रता आंदोलन की क्रांतियाँ—उसी अलौकिक वैचारिक शक्ति का प्रतीक हैं, जिन्होंने तत्कालीन समय के प्रवाह को दिशा देने का महती कार्य संपन्न कर दिखाया। ऐसा थोड़े ही है कि यह करने के लिए उन्होंने कोई विचारोत्तेजक साहित्य रचा हो ? नहीं। पर उन्होंने इनसान के अंत:करण को झकझोरने का कार्य किया। मात्र वो करने से ही समाज की दिशा को बदल पाना संभव है।"

थोड़ा रुककर पूज्य गुरुदेव आगे बोले—"जो पहले घट चुका है, वो आज भी संभव है। आज का समय भी एक ऐसी ही विचारक्रांति की माँग करता है और साथ ही यह जरूरी भी है कि एक ऐसी क्रांति जन्म ले। आज की विषम परिस्थितियों में यह एक अनिवार्यता बन चुकी है। वैभव और विनाश के झूले में झूल रही मानवता को उबारने के लिए उनकी आस्थाओं के मर्मस्थल तक पहुँचना होगा और मानवीय गरिमा को उभारने वाला, दूरदर्शी विवेकशीलता को जगाने वाला प्रचंड पुरुषार्थ संपन्न कर दिखाना होगा। आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता और चुनौती यही है कि लोकचिंतन को सही दिशा देने के लिए एक ऐसा विचार-प्रवाह खड़ा किया जाए, जो किसी भी स्थिति में अवांछनीयता को टिकने ही न दे।"

पूज्य गुरुदेव के कहे गए शब्द उन सज्जन के हृदय को अंतरंग से मथ रहे थे, उन्हें कुछ नया व अच्छा करने के लिए प्रेरित भी कर रहे थे। मन-ही-मन वे सोच रहे थे कि आज के विकृत वातावरण को बदलने के लिए युगांतरकारी प्रयत्न को करने की जरूरत है। उनके मन के विचार, उस वसंत पंचमी की उनकी गुरुदेव से हुई मुलाकात को आधार बनाते हुए एक संकल्प का रूप धारण कर रहे थे। निश्चित रूप से उनके मध्य घटा वो वार्त्तालाप आज की परिस्थितियों में भी एक वैसे ही प्रयास की माँग करता है, जो मानवीय अंत:करण की पवित्रता को उभारने के दैवी संकल्प को पूरा कर सके। ❑

**बाबा राघवदास उन दिनों गाँव-गाँव घूमकर लोगों को स्वच्छता हेतु जागरूक करते। उन दिनों कितने ही गाँव महामारियों की चपेट में आ गए थे। वे एक गाँव में अपने साथियों के साथ पहुँचे। उन्होंने वहाँ ग्रामीणों को सफाई का महत्त्व बताया और स्वयं भी उस गाँव में सफाई करना शुरू किया। ऐसा करते महीनों व्यतीत हो गए, परंतु वहाँ के ग्रामीणों के जीवन में कोई अंतर नहीं आया। एक दिन एक कार्यकर्त्ता बाबा से पूछ ही बैठा—"बाबा! आपको इन ग्रामीणों को सफाई का महत्त्व बताते और स्वयं सफाई करते महीनों बीत गए, परंतु इनके स्वभाव में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया। आप कब तक इन गँवारों को बदलने का प्रयास करते रहेंगे ?" बाबा बोले—"भाई! इतने में ही घबरा गए। जिन ग्रामीण जनता की हमने इतनी उपेक्षा की, उन्हें वर्षों अज्ञान के अंधकार में भटकाए रखा, उनमें संस्कार निर्माण करने के लिए उतनी ही प्रतीक्षा भी करनी पड़ेगी। निस्स्वार्थ भाव से धैर्यपूर्वक सेवा करने पर उनमें स्वच्छता का संस्कार अवश्य ही पैदा होगा।" यही हुआ। एक वर्ष के अंदर वे उस आस-पास के सौ गाँवों को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर, उन्हें सुसंस्कारी बना सकने में सफल हुए।**

# हरि ब्यापक सर्बत्र समाना, प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना

इस समस्त बाह्य चराचर जगत् के कारण अनंत चेतन ब्रह्म ही हैं। अनंत चेतन ब्रह्म के दो रूप हैं, एक व्यक्त रूप है और दूसरी वह आभ्यंतर चेतना, जो इस बाह्य व्यक्त जगत् को अनुप्राणित करती है, स्फूर्ति देती है। ब्रह्म का व्यक्त रूप इंद्रियगोचर है और वह बाह्य प्रपंच कहलाता है और दूसरा रूप अतींद्रिय है और वह प्रत्यक्ष चैतन्य कहलाता है।

जहाँ परब्रह्म का व्यक्त रूप है, बाह्य प्रपंच है; वहाँ उनका अव्यक्त रूप भी है, प्रत्यक्ष चैतन्य भी है। जैसे दूध में मक्खन तो है, पर वह दूध की भाँति व्यक्त नहीं, अव्यक्त है और वह दूध के अणु-अणु में व्याप्त है। जब तक दूध का मंथन नहीं होगा, तब तक उसमें मक्खन दृश्यमान होगा नहीं, दृष्टिगोचर होगा नहीं। और जैसे ही दूध का मंथन हुआ, वैसे ही उसमें मक्खन भी दृश्यमान होने लगता है, दृष्टिगोचर होने लगता है।

उसी प्रकार हम अव्यक्त ब्रह्म को स्वयं के भीतर प्रकट कर सकते हैं और उसकी ब्रह्मानुभूति कर सकते हैं। इसके लिए अपने अंत:करण का मंथन आवश्यक है। आत्ममंथन आवश्यक है और इस मंथन हेतु आवश्यक है गहन और निरंतर योग-साधना। ब्रह्म निराकार तो हैं, निर्गुण तो हैं, अरूप तो हैं, पर वे अपनी इच्छा व संकल्प मात्र से निराकार होते हुए भी साकार हो सकते हैं। निर्गुण होते हुए भी सगुण हो सकते हैं, अरूप होते हुए भी सरूप हो सकते हैं व कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ व सर्वशक्तिशाली हैं, अस्तु उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं।

एक तो अपनी इच्छा व संकल्प मात्र से अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त हो सकते हैं, दूसरा उन्हें कोई सच्चा साधक, भगवद्भक्त अपने प्रेम से भी प्रकट होने को राजी कर सकता है। संत सूरदास, संत तुलसीदास, मीराबाई, संत नामदेव, श्रीरामकृष्ण परमहंस, परमपूज्य गुरुदेव आदि अनेक संतों ने अपने प्रेम के बल पर ही परब्रह्म को प्रकट होने को, निराकार ब्रह्म को साकार रूप में प्रकट होने को बाध्य कर दिया था।

यदि साधक की साधना सच्ची है, साधक की भक्ति सच्ची है तो वह निराकार ब्रह्म का जिस रूप में दीदार चाहता है, दर्शन चाहता है—वह उस रूप में उन्हें अवश्य प्राप्त कर सकता है। रामचरितमानस की प्रस्तुत चौपाइयों में भगवान शिव माता पार्वती को यही समझा रहे हैं—

**बैठे सुर सब करहिं बिचारा।**<br>
**कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥**<br>
**पुर बैकुंठ जान कह कोई।**<br>
**कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥**<br>
**जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती।**<br>
**प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥**<br>
**हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।**<br>
**प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥**<br>
**देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं।**<br>
**कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥**<br>
**अग जगमय सब रहित बिरागी।**<br>
**प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥**<br>
**मोर बचन सब के मन माना।**<br>
**साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥**

अर्थात एक बार सब देवता बैठकर विचार करने लगे कि प्रभु को कहाँ पावें, ताकि उनके सामने पुकार (फरियाद) करें। कोई वैकुंठपुरी जाने को कहता था और कोई कहता था कि वही प्रभु क्षीरसमुद्र में निवास करते हैं, पर सच तो यह है कि जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति होती है, प्रभु वहाँ (उसके लिए) सदा उसी रीति से प्रकट होते हैं।

हे पार्वती! उस समाज में मैं भी था। अवसर पाकर मैंने एक बात कही कि मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान सब जगह समान रूप से व्यापक हैं और प्रेम से वे प्रकट होते हैं। देश, काल, दिशा, विदिशा में बताओ, ऐसी जगह कहाँ है, जहाँ प्रभु न हों। वे चराचरमय (चराचर में व्याप्त) होते हुए भी सबसे रहित हैं और विरक्त हैं, उनकी कहीं आसक्ति नहीं है। वे प्रेम से प्रकट होते हैं, जैसे अग्नि। अग्नि अव्यक्त रूप से सर्वत्र व्याप्त है, परंतु किसी साधन के सहारे वहाँ

वह प्रकट होती है। इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त भगवान भी प्रेम से प्रकट होते हैं। मेरे द्वारा कही गई यह बात सबको प्रिय लगी और ब्रह्मा जी ने 'साधु-साधु' कहकर बड़ाई की।

वस्तुतः निर्गुण, निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ब्रह्म अपने संकल्प मात्र से या धर्म की स्थापना हेतु या फिर अपने भक्तों की आकुल पुकार पर प्रकट होते हैं। अव्यक्त होते हुए भी वे व्यक्त होते हैं। अशरीरी होते हुए भी वे मनुष्य शरीर में अवतार लेते हैं, पर वे माया और उसके सत्, रज, तम आदि गुणों और बाहरी तथा भीतरी इंद्रियों से भी परे हैं। उनका शरीर भी दिव्य एवं उनकी अपनी इच्छा से ही बना होता है। किसी कर्मबंधन से परवश होकर त्रिगुणात्मक भौतिक पदार्थों के द्वारा नहीं। अस्तु यदि हम भी उस अव्यक्त परब्रह्म को अपने अंतस् में व्यक्त होते हुए अनुभूत करना चाहते हैं तो हमें भी आत्ममंथन करना होगा। इंद्रियातीत, इंद्रियों से परे परब्रह्म की अनुभूति इंद्रियों की दासता व बंधन में रहते हुए नहीं, बल्कि उससे परे होकर ही की जा सकती है। परमात्मा की अनुभूति, ब्रह्मानुभूति आत्मा से ही, आत्मा के द्वारा ही हो सकती है।

इसलिए योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि जो पुरुष इंद्रियों के समुदाय को भली प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी और सदा एक रस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानंदघन ब्रह्म को निरंतर एकीभाव से ध्यान करते हुए भजते हैं, वे योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं, पर हाँ! उन सच्चिदानंदघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के साधन में परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, परंतु जो मेरे परायण रहने वाले भक्तजन संपूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मुझ सगुण रूप परमेश्वर को ही अनन्य भक्तियोग से निरंतर चिंतन करते हुए भजते हैं। उन प्रेमीभक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।

इसलिए हे अर्जुन! तू मुझमें मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा, इसके उपरांत तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है, पर हाँ! यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! तू मेरे नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, जप व भगवत्प्राप्ति विषय-शास्त्रों का पठन-पाठन आदि चेष्टाएँ व अभ्यास के द्वारा मुझको प्राप्त होने के लिए इच्छा कर, पर यदि तू उपर्युक्त अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि को ही प्राप्त हो गया। यदि तू इस साधन को करने में भी असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर; क्योंकि ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तत्काल ही परम शांति प्राप्त होती है।

गीता (7/16-18) में भगवान कहते हैं कि सांसारिक पदार्थों के लिए भजने वाले, संकट निवारण के लिए भजने वाले, मेरे को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा से भजने वाले एवं सदा ज्ञान में स्थित रहकर मुझे भजने वाले ज्ञानी भक्त— ये चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं। पर इन चार प्रकार के भक्तों में मुझमें नित्य एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानीभक्त अति उत्तम है और वह मुझे अतिशय प्रिय है। ज्ञानीभक्त मुझसे निष्काम प्रेम करता हुआ सदा मुझमें ही स्थित है और वह साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसा मेरा मत है।

कहने का तात्पर्य यह है कि निष्काम, निश्छल प्रेम से परब्रह्म को, अपनी आत्मा में प्रकट किया जा सकता है। अव्यक्त ब्रह्म को अपनी आत्मा में व्यक्त होते अनुभव किया जा सकता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह संपूर्ण इंद्रियों को वश में करके सभी प्रकार से परमात्मा के परायण होकर, परमात्मा के प्रेम में डूबकर अपनी आत्मा में परमात्मा का निरंतर ध्यान करता रहे, परमात्मा से निरंतर निष्काम प्रेम करता रहे और इस संसार में रहते हुए सदा स्वयं को परमात्मा के हाथों का यंत्रमात्र बनाए रखे।

इस प्रकार की गई निरंतर साधना से साधक स्वयं की आत्मा में ही अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त होते हुए अनुभव कर सकता है। हाँ! प्रारंभ में इंद्रियों की चपलता, चित्त की चंचलता, भगवद्ध्यान, भगवत्प्रेम में विघ्न अवश्य डालती है, पर भगवद्ध्यान, भगवत्प्रेम, भगवद्भक्ति में निरंतरता रहने से इंद्रियों की चपलता, मन की चंचलता व मलिनता धीरे-धीरे अपने आप मिटने लगती है और साधक इंद्रियों से परे होकर, सत्, रज, तम के प्रभाव से परे होकर अपने भीतर इंद्रियातीत अव्यक्त ब्रह्म की अनुभूति करने लगता है।

वह उस समय अपने अंदर अंतर्निहित ब्रह्म के प्रत्यक्ष चैतन्यस्वरूप की अनुभूति करने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष चैतन्य का साक्षात्कार इंद्रियों के निरोध

अर्थात निरुद्ध मन के द्वारा समाधि की अवस्था में सत्-चित्-आनंद रूप में होता है। उस समय इंद्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, मन ठहर-सा जाता है और तभी साधक को ब्रह्म की अनुभूति होती है; क्योंकि चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने से अर्थात मन के सब प्रकार के संकल्पों से शून्य हो जाने से, सारी इंद्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं; क्योंकि हमें दृश्य जगत् की प्रतीति विभिन्न इंद्रियों के द्वारा होती है, किंतु ये इंद्रियाँ अर्थात चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मन के सहयोग के बिना व्यापार नहीं करतीं।

इसलिए मन के निरुद्ध होते ही अन्य सारी इंद्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपंच दिखना बंद हो जाता है—तब इस दृश्य जगत् में रहते हुए भी साधक के लिए यह दृश्य जगत् अदृश्य हो जाता है और बाह्य प्रपंच के अदृश्य हो जाने पर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक्ष चैतन्य की उपलब्धि होती है अर्थात बाह्य आवरण के दृष्टि के सामने से हट जाने पर भीतर की सार वस्तु प्रकट हो जाती है। वस्तुतः साधक की यह अवस्था ही मोक्ष की अवस्था है, मुक्ति की अवस्था है, निर्वाण की अवस्था है, कैवल्य की अवस्था है। आत्मसाक्षात्कार व ब्रह्म-साक्षात्कार की परम अवस्था है। चाहें तो सच्ची साधना से हम भी इस उपलब्धि को, इस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। ❑

**एक बड़े प्रदेश के मंत्री थे। वे अच्छे चिंतक एवं प्रभावी वक्ता थे, परंतु उनका चिंतन एवं व्यक्तित्व बड़े ही विकृत थे। तब भी समाजसेवा एवं सुधार के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध बताने में संकोच न करते। कोई पूछता तो वे कहते—''हम जनता के विचारों को जाग्रत एवं परिमार्जित करते हैं। उन्हें ठीक दिशा दिखाना और उस पर चलने की प्रेरणा देना हमारा काम है।'' एक बार वे एक गाँव में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक विख्यात संत की चर्चा सुनी तो वे भी दर्शन हेतु पहुँच गए। जाते ही साधु ने मंत्री जी को गोबर उठाकर लाने की आज्ञा दी।**

**मंत्री जी साधु के इस व्यवहार से बहुत खिन्न हो गए, पर वे हँसकर उठे और किसी तरह गोबर उठा लाए। साधु बोले—''इसे यहीं रख दो और वह पुस्तक उठाकर ले आओ और उसे पोंछ दो।'' मंत्री जी बोले—''मैं हाथ धो लूँ महाराज ? पुस्तक में गोबर लग जाएगा तो वह और भी गंदी हो जाएगी।'' साधु गंभीर स्वर में बोले—''एक किताब उठाने में तो तुम यह देखते हो कि गंदे हाथों से किताब गंदी हो जाएगी, किंतु इतने बड़े समाज के दोष दूर करने चले हो और तुम अपने अंतस् की गंदगी नहीं देखते हो ? इस गंदे मन के साथ तुम जहाँ भी जाते हो, उतनी ही बुराई फैलाते हो।'' मंत्री जी को साधु की महानता व अपनी क्षुद्रता का एहसास हो गया। पहले अपने दोष दूर करो, तब समाज के दोष दूर करने चलो। वस्तुतः आत्मसाधना ही समाजसेवा की कुंजी है।**

अपने देश में छह ऋतुएँ होती हैं। ऐसा सुयोग विश्व में और कहीं नहीं है। इन छह ऋतुओं में वसंत को ऋतुराज कहते हैं। वसंत पंचमी का पर्व हर वर्ष अपने यहाँ माघ शुक्ल पंचमी को मनाया जाता है। संस्कृत साहित्य तो वसंत के गुणगायन से भरा पड़ा है। पक्षियों का कलरव, आम्रमंजरियाँ, मंद-मंद बहती बयार और वसंत ऋतु की सुवास अनायास सभी पर छा जाती है। जौ और गेहूँ की बालियाँ इस दिन भगवान के समक्ष अर्पित की जाती हैं। ब्रज-क्षेत्र में यह उत्सव विशेष उल्लास के साथ मनाया जाता है। वहाँ सृष्टि की गहराई को समझ पाने की दृष्टि के लिए माँ शारदा से विशेष निवेदन किया जाता है।

वर्तमान समय की परिस्थितियाँ परिवर्तित हैं। इसलिए अब यह कह पाना कठिन होगा कि वसंत पंचमी का उत्सव उन्हीं भावों के साथ मनाया जाता है या नहीं, परंतु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि अपने देश में अन्य ऋतुओं की तुलना में इस पर्व का विशिष्ट महत्त्व है। सरस्वती पूजन की परंपरा शायद वैदिककाल से चली आ रही है, क्योंकि संहिताओं के अध्ययन एवं पाठ के लिए यह दिन सबसे श्रेष्ठ माना गया है। सरस्वती के जन्म की कथा अनेक ग्रंथों में मिलती है। ब्रह्मा ने जब सृष्टि की रचना का संकल्प किया तो सात्त्विक चिंतन के क्षणों में उनके ललाट पर एक शुभ्र दीप्ति प्रदीप्त हुई।

कुछ समय बाद उस स्थान से एक नवजात कन्या अवतरित हुई। ब्रह्मा ने पूछा—"तुम कौन हो?" उस कन्या ने कहा—"मेरा जन्म आपके चिंतन से हुआ है। कृपया मुझे यथोचित स्थान दें और मुझे सेवा-भार सौंपें।" ब्रह्मा ने सरस्वती से कहा—"तुम लोगों की जिह्वा में स्थान ग्रहण करो और वाक्शक्ति बनकर क्रियाशील रहो। वाक् से ही लोग वश में होते हैं और वाक् से ही एकदूसरे के शत्रु हो जाते हैं। मगर जो तुम्हारी अनेकानेक छवियों को पहचानेंगे, वे कवि-मनीषी आदि कहलाएँगे। यही नहीं तुम्हें पृथ्वी पर दिव्य एवं पावन नदी के रूप में भी प्रतिष्ठा मिलेगी।"

कालांतर में कुंभकर्ण की घोर तपस्या से ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर वरदान माँगने के लिए कहा। तब सरस्वती कुंभकर्ण की जिह्वा पर कुछ अधिक तीव्रता से क्रियाशील हो गईं। परिणाम यह हुआ कि सरस्वती के प्रभाव से कुंभकर्ण ने इंद्रासन की जगह निद्रासन माँगा। इसी तरह समुद्र में जो बड़वाग्नि है, उसे वहाँ पहुँचाने का काम भी सरस्वती ने किया। हुआ यह कि भार्गव और भौर्व ऋषि के बीच किसी विषय पर तीखी बहस हो गई। बहस का कारण भी सरस्वती ही थीं। इस तर्क-वितर्क का परिणाम यह हुआ कि एक लपट पैदा हुई। यह क्रोध था। इसका जन्म ब्रह्मा की पलकों से हुआ माना जाता है।

सरस्वती ने जब देखा कि जिह्वा से जन्मी तर्क ज्वाला से सभी कुछ नष्ट हो जाएगा, तो सरस्वती उस लपट को समुद्र के तल में दबा आईं। इसे ही बड़वाग्नि कहा जाता है। सरस्वती नदी के तट पर ही वेदव्यास के पुत्र ने परीक्षित को ज्ञान दिया था। पौराणिक कथाओं के अनुसार वसंत को कामदेव एवं देवी रति का पुत्र कहा गया है। रूप एवं सौंदर्य के देवता कामदेव के घर संतान पैदा होने से प्रकृति झूम उठती है, पेड़-पौधे उसके लिए नवपल्लव का पालना डालते हैं। फूल उसे वस्त्र पहनाते हैं। पवन झूला झुलाता है। कोयल उसे गीत सुनाकर बहलाती है। वसंत की महिमा अपार है। इसलिए भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—ऋतुओं में मैं वसंत हूँ।

वसंत ऋतु में सरस्वती माता की पूजा की जाती है। वसंत को हम ऋतुराज कहते हैं। हमारे देश के कवियों ने वसंत की अभ्यर्थना में अनेक गीत गाए हैं। वेदों के पूजन का दिन भी यह माघ शुक्ल पंचमी है। वसंत माँ प्रकृति के विकास की ऋतु है। इसकी महिमा का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यह दिन पूरे देश में सरस्वती पूजा के रूप में मनाया जाता है। वैदिक साहित्य में वाणी (वाक्) की स्तुति अनेक ऋचाओं में विन्यस्त है। संस्कृत के अतिरिक्त पालि, प्राकृत ग्रंथों में भी वसंत की महिमा का वर्णन किया गया है। इस विषय में एक कवि ने लिखा है—

गयउ सिसिर वर्णातण दुहंतु।
महुमास मणोहरुइत्थपतु
गिरि मलय समीरणु पिरु
सरंतु भयणाग्नि विऊयहु विप्फुरंतु॥

ब्रजभाषा के कवि पद्माकर की निम्नलिखित पंक्तियों से तो हम सभी परिचित होंगे ही—

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में
बनत में, बागन में, बगरयो वसंत है॥

महादेवी वर्मा, जिन्हें हम आधुनिक मीरा की संज्ञा से अभिहित करते हैं, उन्होंने भी वसंत की अभ्यर्थना में लिखा है—

धीरे-धीरे उतर क्षिति से आ वसंत रजनी।
तारकमय नववेणी बंधन
शीशफूल शशि का कर नूतन
रश्मिवलय सितघन अवगुण्ठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे।

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कवि कुँअर नारायण ने वसंत का उल्लेख इस प्रकार किया है—

फूलों के चेहरे और तथाकथित चेहरे।
दौड़कर किसी ने बाँह गर्दन में डाल दी
छू गया वसंत की बयार का महक दुकूल।
ये मकान भी अजीब आदमी बने-ठने, तने-तने
न फूल हैं न पत्तियाँ, बेजबान मुँह असंख्य।
खिड़कियाँ खुली हुई पुकारतीं।
बस अंत आ बस अंत आ।
धूल उड़ रही उधर
जिधर तमाम भीड़ से लदी-फंदी सवारियाँ
गुर रहीं, उधर नहीं,
तु उसी प्रसूनयुत छबील कुंज मार्ग से वसंत आ।
समीप से सुगंधि रथ गुजर गए
मन उचाट इस तरह
कि हम अतिथि शुभागमन भुला गए यह बहार,
एक ज्वार फूल फिर उलीच कर चली गई
कोकिला कंठ से पुकारती वसंत आ गया
वसंत आ गया, वसंत आ गया।

महाकवि निराला की कविताओं में बहती है वसंती हवा—

सखि वसंत आया
भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृंद बंदी-
पिक-स्वर नभ सरसाया।

वसंत प्रकृति के उत्सव की ऋतु है। इस ऋतु में समस्त प्रकृति नर्तन, गायन एवं कीर्तन करती है। तन-मन झूम उठता है। भावना पुलकित हो उठती है। ऋतुराज वसंत हमारे जीवन को उमंगित एवं पुलकित करें। ❑

---

**एक दिन पंडित ताराचरण शास्त्रार्थ हेतु स्वामी दयानंद के पास पहुँचे। उस समय दयानंद जमीन पर एक आसन पर बैठकर कुछ लिख रहे थे। उन्होंने ताराचरण को अपने पास एक आसन पर बैठने को कहा। ताराचरण को अपनी विद्वत्ता का बहुत अभिमान था। वे स्वयं को स्वामी दयानंद से श्रेष्ठ मानते थे। उन्हें उनके साथ जमीन पर बैठने में अपना घोर अपमान महसूस हुआ। इसलिए वे खड़े ही रहे। स्वामी दयानंद उनके मनोभाव को ताड़ गए। उन्होंने कहा—"पंडित जी मात्र ऊँचे आसन पर बैठने से कोई महान नहीं होता। महानता तो त्याग, परोपकार, विनम्रता जैसे गुणों से तय होती है। व्यक्ति गुणों से महान बनता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं।" स्वामी दयानंद की बात सुनकर पंडित ताराचरण लज्जित हो गए और उनकी बगल वाले आसन पर बैठ गए।**

---

# जीवन एक मेला है

मेल-मिलाप से मेला बन जाता है। विचारों का मिलाप अगर हो तो उसमें विभिन्न प्रकार के विचारों के व्यक्तियों से मिलने का, उनको समझने का अवसर मिलता है। इसमें दूर-दूर से आने वाले व्यक्ति अपनी सुविधा को छोड़कर एकजुट होते हैं। विरोधी और आपसी विपरीत अनुभूतियों में एक जैसा भाव जाग्रत करने के लिए इससे अच्छा अभ्यास भला और क्या हो सकता है। वैसे मिलने का मतलब योग भी होता है अर्थात जीवन कर्म की साधना करते हुए परमात्मा से मिलना।

यदि मेले का भाव समझ में आ जाए तो जीवन में सुख-दुःख से उपराम हुआ जा सकता है। जीवन में सामंजस्य बिठाया जा सकता है। मन बड़ा चंचल है। मेले में चलित क्षणों का मेल हो जाता है। अनेक प्रकार के दृश्य, विचार मिलते हैं, जिससे स्वाभाविक रूप से चंचल मन का संघटन हो जाता है। दार्शनिक भाषा में मेले को कहेंगे—क्षणिक या अस्थायी मिलन। एक दिन से लेकर अधिक-से-अधिक एक माह की मेले की परंपरा अपने देश में दिखाई देती है।

इसी तरह से जीवन भी एक मेला है। कोई 35 वर्ष के लिए आया है, कोई 50 वर्ष तथा कोई 75 या 90 वर्ष के लिए दुनिया में आया है। इन मेलों से यदि यही प्रेरणा लें तो जीवन में असंतुलन या असामंजस्य नहीं हो सकता है। यहाँ अलगाव है, फिर भी एकता है। आने वाले लोगों का पहनावा अलग, खान-पान अलग, रंग-रूप अलग, खाना बनाने की पद्धति भी अलग-अलग हैं, फिर भी परमात्मा का नाम लेते हुए पवित्र नदी में स्नान के समय मन, बुद्धि, शरीर सब पवित्र हो जाते हैं। एक होने पर कौन किससे राग करेगा, कौन किससे द्वेष?

संसार में सभी कुछ अपने मन के अनुकूल नहीं हो सकता है। अनुकूलताएँ विरल होंगी, कम होंगी, प्रतिकूलताएँ अधिक। वेदों का सार गीता को कहा गया है; क्योंकि उसमें जीवन को संतुलित बनाने के उपाय बतलाए गए हैं। जो व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में विचलित न हो, वही स्थितप्रज्ञ है, फिर वेश चाहे जो भी रहे। चाहे इंद्रपद मिल जाए अथवा पाँच घरों से भिक्षान्न प्राप्त कर जीवन-निर्वाह करना पड़े—दोनों ही स्थितियों में संतुष्ट रहने वाले, समान मानसिकता में जीने वाले को कोई विचलित नहीं कर सकता। परमहंस की अवस्था, जिसे ब्राह्मी स्थिति भी कहा गया है, उसमें जीवन के ये सभी विक्षोभ दूर हो जाते हैं, तभी मनुष्य को स्थायी शांति मिलती है।

धर्म मनुष्य का सहयोगी, साथी और मार्गदर्शक है, किंतु आध्यात्मिकता बहुत ऊँची अवस्था है, जिसका लक्ष्य परमात्मा है, आत्मानुभूति है—उसके सामने सुख-भोगों का कोई महत्त्व नहीं है। प्रभुप्रेमी की भावदशा ही विचित्र होती है। ऐश्वर्यशाली की, संपन्न की, प्रायः इंद्र के वैभव से तुलना की जाती है, परंतु इंद्र की स्थिति सदैव भय में रहती है। उसे सदैव इस बात की चिंता रहती है, यह भय रहता है कि उससे अधिक न मालूम किसका पुण्यफल उदित हो जाए और उसे इंद्रपद से अलग कर दिया जाए, परंतु आत्मसिंहासन पर बैठने वालों को कोई नहीं गिरा सकता है। आत्मबोध होने पर चाहे गृहस्थी हो, चाहे संन्यासी—वह कभी असंतुष्ट रह ही नहीं सकता है।

जो नहीं मिला है, उसको प्राप्त करने का भाव व्यक्ति के मन में असंतोष को जन्म देता है। जो मिला है, उसके प्रति संतुष्टि का भाव रखना ही उपासना है। जो आत्मसिंहासन पर विराजमान होकर निजात्मबोध के आनंद में मग्न है, उसके सामने इंद्रासन भी तृणवत् होता है। वह मन से स्थिर और अच्युत हो जाता है। जो जिस इष्ट की उपासना करता है, वह उस इष्ट से एकाकार हो जाता है। वास्तव में साधना पद्धतियाँ और कुछ नहीं, एक ही स्थान पर पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इसलिए किसी को अपना इष्टदेव बदलने की आवश्यकता नहीं है। आदिशंकराचार्य ने पाँच उपासनाएँ प्रचलित की थीं—शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश और सूर्य की। किसी दूसरे को दुःख पहुँचाए बिना, अपने इष्ट की पूजा करने का सभी को समान अधिकार है।

प्राचीनकाल में जब धर्म जीवन का आवश्यक और अंतिम अंग था, तब आसुरी शक्ति से लोग लोहा लेते थे और

उस हेतु बलिदान देते थे। संस्कृति और धर्म की रक्षा में तत्पर रहते थे, परंतु आज संस्कृति के उन्नयन की बात कोई नहीं करता है। धर्म के वृक्ष को श्रद्धा और विश्वास के जल से सींचकर पोषित-पल्लवित किया जा सकता है। वैराग्य का पुष्प लगने पर, मोक्ष का फल अपने आप लग जाता है। मोक्ष मरने के बाद नहीं, जीवित रहते हुए भी प्राप्त किया जा सकता है। हमारा भाव यही हो कि हमारी जितनी भी संपदा है, वह परमात्मा की शक्ति बन जाए। केवल संपत्ति ही नहीं, विपत्ति भी परमात्मा की वस्तु समझकर उसी को अर्पित करें तो संसार की कोई भी शक्ति हमको विचलित न कर सकेगी। घनघोर एवं भयावह संकट भी हमको डरा नहीं सकेंगे।

हम सबको संपत्ति और विपत्ति में, सुख और दुःख में एकरूपता, समानता की प्रतीति करनी ही चाहिए। यदि यह धारणा दृढ़ हो गई तो जीवन प्रभुमय बन जाएगा। जो व्यक्ति सुख-दुःख में विचलित नहीं होता है, सबके प्रति समभाव रखता है, सभी में परम प्रभु की छवि देखता है— उसमें आध्यात्मिकता का अंकुरण होता ही है। अग्नि की, त्याग की प्रभा को प्रकट करने वाला यह संन्यासियों का वस्त्र यद्यपि महत्त्वपूर्ण है, परंतु वेश ही सभी कुछ नहीं होता है।

गृहस्थाश्रम में भी रहने वाला व्यक्ति यदि इस जीवनशैली को अपनाता है तो वह भी उसी कोटि का साधक माना जा सकता है। मनुष्य यह अनुभव करे कि यदि वह केवल परमात्मा से ही प्रेम करता है, केवल उसी के लिए उसका जीवन समर्पित है, तो वह सदा आनंदमग्न रह सकता है। आनंद केवल प्रभुचरणों में है। जीवन के इस मेले में केवल परमात्मा ही सर्वस्व हैं। इस विश्वास के दृढ़ होने पर ही वह जीवन में मुक्त हो जाएगा। जीवन परमात्मा का प्रवाह है। सचमुच परमात्मा प्रवाहित हो रहा है, जीवन के रूप में। संपूर्ण रूप से पवित्र, परिमार्जित एवं परिष्कृत है यह जीवन-प्रवाह।

भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता, 7/7 में कहा है— **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**॥ अर्थात मुझमें सब उसी प्रकार गुँथे हुए हैं, जैसे कि धागे में सभी मणियाँ। प्रत्येक मणि के द्वारा धागे का स्पर्श ही प्रत्येक जीवात्मा का परमात्मा से संस्पर्श है। जीवन मेला भी कुछ ऐसा ही है। इसमें ऊपरी तौर पर तो भारी भेदभाव है, लेकिन भीतरी तौर पर उस सत्य की अनुभूति है, जिसमें हम सभी को इस महामेले में इकट्ठा किया गया है। यह अनुभूति हमें विसंगतियों में सुसंगति प्रदान करती है। दुःख में सुख, अँधेरे में प्रकाश की खोज की राह भी तो यही है।

घर-परिवार की एकजुटता हो अथवा कुटुंबियों व संबंधियों की, समाज का मेल-मिलाप हो अथवा संस्कृतियों का सम्मिलन, बात अपने देश की जमीन तक सीमित न हो या फिर समूचे विश्व-वसुधा की—यह सब कुछ अपने जीवन मेले के ही विविध रूप हैं। मेला तो है ही उत्सव, राग, अनुराग, उल्लास का पर्याय। जो भी इस सच को जान लेता है, वह अपने जीवन को खुशियों से भर लेता है। आइए जीवनरूपी इस मेले का आनंद उठाएँ। ❑

**युग निर्माण के लिए अगले ही दिनों हमें अनेक रचनात्मक और संघर्षात्मक प्रक्रियाएँ, हलचलें आरंभ करनी पड़ेंगी। उसके लिए ऐसे कर्मठ, भावनाशील, प्रतिभाशाली और प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी, जो अपना सारा जीवन ही इस पुण्यप्रयोजन के लिए समर्पित करें और सारी विचारणा एवं आकांक्षा उसी केंद्र पर केंद्रीभूत कर दें। अपने आप को और अपने संकीर्ण स्वार्थों को भूलकर विश्व-मंगल के लिए अपने को उत्सर्ग करने में गर्व-गौरव का अनुभव करें। ऐसी प्रबुद्ध आत्माओं से रहित भारतभूमि नहीं है। वे हैं, उन्हें जगाया, उठाया और लगाया जाएगा।**

***—परमपूज्य गुरुदेव***

# निष्काम कर्म है कर्मयोग

यह संसार कितनी विषमताओं, कितनी विडंबनाओं से भरा है। यह संसार न जाने कितनी विविधताओं व घटनाओं से भरा है। इस संसार में सुखी लोग भी हैं और दुःखी लोग भी। कोई कम दुःखी है तो कोई अधिक दुःखी है। कोई कम सुखी है तो कोई अधिक सुखी है। किसी के जीवन में सुख-ही-सुख है तो किसी के जीवन में दुःख-ही-दुःख है। किसी का जीवन उत्सव सरीखा है, तो किसी का जीवन मातम सरीखा है। अच्छे कर्म करते हुए भी कुछ लोग दुःखी हैं, तो बुरे कर्म करते हुए भी कुछ लोग सुखी हैं, हर्षित हैं। कुछ लोग दूसरों को सताकर, रुलाकर भी सुखी हैं, बिना परिश्रम किए ही मालामाल हैं, तो कुछ लोग परिश्रम व ईमानदारी से कार्य करते हुए भी दुःखी हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सुख और दुःख, हर्ष और विषाद से परे परम आनंद की अवस्था में हैं। संसार में ऐसी विषमताएँ क्यों हैं भला? क्या यह सब अकारण ही है अथवा इसके पीछे कोई ठोस कारण है? बुरे कर्म करने वाले दुःखी हों, यह बात तो समझ में आती है, पर अच्छे कर्म करने वाले लोग भी दुःखी हों, भला ऐसा कैसे हो सकता है? क्या पुण्य कर्म, शुभ कर्म, अच्छे कर्म करने वाले व्यक्तियों को उनके अच्छे कर्मों का कभी सुफल नहीं मिलेगा? क्या अनीति, बेईमानी के रास्ते पर चलने वाले लोगों को उनके बुरे कर्मों का दंड मिल सकेगा? ऐसे अनेक प्रश्न हमारे मन में अक्सर उठते हैं।

कुछ बच्चे सोने के पालने में किलकारियाँ मार रहे होते हैं तो कुछ जन्म से ही दुःखी, अपंग व रोगी बन सिसकियाँ भर रहे होते हैं। भला ऐसी विषमताएँ हैं ही क्यों? ऐसे अनेकों प्रश्न हमारे समक्ष उठ खड़े होते हैं। इन विषमताओं के पीछे, विविध घटनाओं व परिणामों के पीछे कुछ-न-कुछ कारण तो अवश्य ही है; क्योंकि इस संसार में कोई भी घटना महज संयोग नहीं होती। हर क्रिया, हर घटना, हर परिणाम के पीछे कोई-न-कोई ठोस कारण तो अवश्य ही होते हैं। ऊपरी तौर पर इन विषमताओं, घटनाओं व परिणामों के पीछे जनसामान्य को कोई तर्क, कोई औचित्य दिखाई नहीं पड़ता, पर सच तो यह है कि उन घटनाओं के पीछे अवश्य ही कोई ठोस कारण है, जिसे सूक्ष्मदृष्टि से ही समझा व देखा जा सकता है।

सूक्ष्मदृष्टि, दार्शनिक दृष्टि, आध्यात्मिक दृष्टि व शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो कोई भी प्राणी केवल वर्तमान में दिखने वाला स्थूलशरीर नहीं है, बल्कि वास्तविक प्राणी तो जीवात्मा है, जो विभिन्न जन्मों से विभिन्न शरीरों का परित्याग और विभिन्न शरीरों को धारण करता रहा है, पर जीवात्मा को अपने वर्तमान जीवन में अपने पूर्वजन्म में किए गए शुभ-अशुभ कर्मों की स्मृति नहीं होने से वह अपने सुख और दुःख के तात्कालिक कारणों को नहीं समझ पाता।

यही सत्य योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता (4/5) में अर्जुन के समक्ष प्रकट करते हुए कहते हैं—"हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सभी जन्मों को तू नहीं जानता, पर मैं जानता हूँ।" दरअसल शरीर त्याग करने के बाद भी उस शरीर में रहते हुए किए गए कर्मों के संस्कार को जीवात्मा विभिन्न जन्मों में ढोते फिरता है और उसके अच्छे-बुरे परिणामों को भोगते रहता है।

कर्मों के संस्कार जीवात्मा का विभिन्न जन्मों तक पीछा करते रहते हैं और विभिन्न जन्मों में अपने अच्छे-बुरे परिणामों को प्रकट करते ही रहते हैं। यह सच है कि अच्छे कर्मों का परिणाम अच्छा ही होता है और बुरे कर्मों का परिणाम बुरा ही होता है, पर यह आवश्यक नहीं कि इस जन्म में हम जो भी अच्छे या बुरे कर्म कर रहे हैं उनका फल हमको इसी जन्म में मिल जाए। वह फल हमको इस जन्म में भी मिल सकता है और अगले जन्म में भी।

इसी आधार पर तो कोई जन्म लेते ही सुखद, अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त कर लेता है और कोई दुःखद परिस्थितियाँ प्राप्त करता है। अनीति के मार्ग पर चलकर भी सुखी दिखने वाले लोग वस्तुतः अपने वर्तमान अनीतिपूर्ण, बुरे कर्मों के कारण सुखी नहीं हैं, बल्कि पूर्वजन्म में किए गए अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप ही सुखी हैं। हाँ! वे वर्तमान में जो बुरे कर्म कर रहे हैं, वे कर्म भी संचित हो रहे हैं; जो प्रारब्ध

बनकर भविष्य में या अगले जन्म में दुखद परिणाम के रूप में प्रकट होंगे। इसमें संशय व संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

अस्तु हमारे लिए आदर्श व अनुकरणीय तो यही है कि हम हर हाल में सच्चाई व ईमानदारी के मार्ग पर चलते रहें; क्योंकि सत्य परेशान हो सकता है, पर परास्त कदापि नहीं। हमारे अच्छे कर्म एक-न-एक दिन हमें अच्छे परिणाम अवश्य देंगे। हम बुरे कर्मों से बचते हुए सदा अच्छे ही कर्म करें, शुभ कर्म ही करें, पुण्य कर्म ही करें, पर यह समझ लेना भी उतना ही आवश्यक है कि बीज बोते ही बीज रातोरात वृक्ष तो नहीं बन सकता। हाँ! उस बोए गए बीज का संरक्षण, पोषण करते रहें तो वह बीज एक दिन वृक्ष अवश्य ही बन सकेगा और हमें उसके मधुर फल अवश्य ही प्राप्त होंगे। बस, हमें धैर्य रखने की आवश्यकता है। जैसा कि संत कबीर ने कहा है—

**धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।**
**माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय॥**

अर्थात मन में धीरज रखने से सब कुछ होता है। अगर कोई माली किसी पेड़ को सौ घड़े पानी से सींचने लगे तब भी फल तो ऋतु आने पर ही लगेगा। अक्सर सच्चाई के मार्ग पर चलते हुए अच्छे कर्म करने वाले लोग अपने कर्मों का त्वरित परिणाम न मिलता देख निराश-हताश हो बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने लगते हैं और अंततः बुरे कर्मों के बुरे परिणामों को पाकर दु:खी होते हैं।

अस्तु हमें कठिन-से-कठिन, प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सत्य का दामन थामे रखना है, ईमानदारी का दामन थामे रखना है। हमें हमारे अच्छे कर्मों का तुरंत फल मिलता नहीं देखकर सत्य का दामन नहीं छोड़ना है, ईमानदारी का दामन नहीं छोड़ना है, अच्छाई का मार्ग नहीं छोड़ना है। हमें बुरे कर्मों से प्राप्त होने वाले सुख, वैभव व सफलता के प्रलोभन से हर हाल में बचे रहना है।

इसलिए तो युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव ने कहा है कि अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि जो नीति पर, सच्चाई पर चलते हुए तात्कालिक रूप से संघर्ष करता हुआ दिख रहा है, कष्ट-कठिनाइयों में दिख रहा है, वह अपने सत्य के बल पर ही एक-न-एक दिन सफलता अवश्य ही प्राप्त कर सकेगा और सच्चाई से प्राप्त सफलता, अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा अनंत गुना अधिक सुखद व स्थायी होगी। अनीति से सफलता प्राप्त कर लेने के बाद भी व्यक्ति को अंततः आत्मग्लानि तो होती है और उसे बुरे कर्म, अनीतिपूर्ण कर्म करने का दु:खद परिणाम भी भुगतना ही पड़ता है।

इसके साथ स्मरणीय यह भी है कि हम अच्छे कर्म अवश्य करें, पर अच्छे कर्मों, शुभ कर्मों, पुण्य कर्मों से मिलने वाले अच्छे फलों, सुखद परिणामों के प्रति आसक्ति न रखें; क्योंकि अच्छे कर्मों से मिलने वाले अच्छे फलों के प्रति आसक्ति भी जीवात्मा के लिए कर्म-संस्काररूपी बंधन है और जीवात्मा की मुक्ति व मोक्ष में बाधक है। अस्तु हम निष्काम कर्म करें, कर्त्तापन के भाव से रहित होकर कर्म करें। अपने हर कर्म को ईश्वर को अर्पित करते चलें और उसके परिणाम की चिंता न करें।

हम जिस भी अच्छे काम को हाथ में लें, उसे कुशलतापूर्वक संपन्न करें। उसमें अपना शतप्रतिशत प्रयास लगा दें। अपनी सारी ऊर्जा व एकाग्रता उस काम में लगा दें और उसके परिणाम को ईश्वर के ऊपर छोड़ दें। इससे यदि कर्म का परिणाम हमारे अनुकूल न भी आए तब भी हमारा आत्मबल, मनोबल बढ़ा-चढ़ा ही रहेगा, जिससे हम पुनः पुरुषार्थ कर उस काम में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। इससे हमारे कर्म संस्काररहित होंगे और हम कर्मों के बंधन से मुक्त होंगे। यही निष्काम कर्म है, यही कर्मयोग है। यही कर्मबंधन से मुक्ति का मार्ग है।

भगवान महावीर ने भी यही कहा है कि जीव के साथ जब तक अच्छे व बुरे कर्मों के संस्कारों, प्रभावों का बंधन लगा हुआ है, तब तक यह जीव इस संसार में जन्म-मरण करता हुआ सुख व दु:ख भोगता रहेगा। परंतु जब यह जीव अपने सत्य पुरुषार्थ अर्थात अहिंसा, संयम, तप, त्याग, ध्यान आदि के द्वारा इन कर्मों के बंधन को छिन्न-भिन्न कर देगा, तभी यह जीव मुक्ति पाने का अधिकारी हो पाएगा। जीव अपने कर्मों को स्वयं ही नष्ट कर सकता है। यह कार्य वह स्वयं और केवल स्वयं ही सत्पुरुषार्थ के द्वारा कर सकता है।

एक बार मुक्ति प्राप्त कर लेने पर यह आत्मा अनंत काल तक मुक्ति में ही रहती है; क्योंकि इस जीव को संसार में जन्म-मरण कराने व सुख-दु:ख देने के कारण जो कर्म-संस्कार होते हैं, उनका ही सर्वथा अभाव हो जाता है। भौतिक शरीर में रहते हुए भी वह जीवनमुक्त रहता है और

हर पल आनंदित रहता है। भौतिक शरीर का परित्याग कर देने के बाद भी जीवात्मा एक अनुपम, अतींद्रिय व सच्चे सुख, शाश्वत सुख की अनुभूति करता है। यह मुक्ति का मार्ग किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही नहीं, अपितु संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए खुला हुआ है। केवल उसे सम्यक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। हमारे लिए योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण का भी यही आह्वान है—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥**

अर्थात तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

निष्काम कर्म अर्थात कर्मयोग को स्पष्ट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि तू निरंतर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्त्तव्य कर्म को भली भाँति करता रह; क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। (गीता, 3/19)।

जनक आदि ज्ञानी जन भी आसक्तिरहित कर्म के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे (गीता, 3/20)। जो मनुष्य समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भली भाँति बरतता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता (गीता, 4/20)। जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है—जिसका चित्त निरंतर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है, ऐसा केवल यज्ञ संपादन के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के संपूर्ण कर्म भली भाँति विलीन हो जाते हैं (गीता, 4/23)। अस्तु भगवान श्रीकृष्ण के उपर्युक्त आह्वान व दिव्य संदेश का अनुसरण करते हुए हम भी क्यों न आसक्तिरहित कर्म करें, निष्काम कर्म करें; क्योंकि निष्काम कर्म ही कर्मबंधन से मुक्ति का मार्ग है। निष्काम कर्म ही कर्म योग है। निष्काम कर्म ही बंधनरहित कर्म है। निष्काम कर्म ही मुक्ति का मार्ग है। ❑

**एक गिद्ध था। उसके माता-पिता अंधे थे। गिद्ध प्रतिदिन अपने साथ-साथ अपने माता-पिता के भोजन की भी व्यवस्था जुटाता। एक दिन वह किसी बहेलिये के जाल में फँस गया। वह बेहद दुःखी हुआ कि मैं मर जाऊँगा तो माता-पिता का क्या होगा? वह जोर-जोर से विलाप करने लगा। बहेलिये ने उसके रोने का कारण पूछा तो गिद्ध ने अपनी व्यथा कही। बहेलिया बोला—"गिद्धों की दृष्टि तो इतनी तेज होती है कि सौ योजन ऊपर आसमान से भी देख लेती है, लेकिन तू जाल को कैसे नहीं देख पाया?" गिद्ध बोला—"बुद्धि पर जब लोभ का परदा पड़ जाता है तो उसे ठीक-ठीक नहीं दिखाई देता। जीवनभर मांस पिंड के पीछे भागते-भागते मेरी नजर को अब उसके सिवाय कुछ और दिखाई ही नहीं देता। इसी कारण मैं तेरा जाल नहीं देख पाया।" बहेलिये को गिद्ध की ज्ञानभरी बातें अच्छी लगीं। उसने कहा—"गिद्धराज! जाओ मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। अपने अंधे माता-पिता की सेवा करो। तुमने मुझे लोभ का दुष्परिणाम बतला दिया।"**

# कबीर का बहुआयामी व्यक्तित्व

**कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।**
**रोम रोम में रमि रहा और अमल क्या खाय॥**

कबीर अपने ही अंदाज एवं मौज के संत थे। संत कबीर मध्यकाल के तिमराच्छन्न वातावरण में अपना ज्ञान-दीपक लेकर अवतरित हुए थे। इससे भ्रमित जनता को उचित पथ और संबल मिला था। कबीर के युग पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि उनका युग विधर्मी शासकों का युग था, जो सदैव उन्माद से भरे रहते थे।

यह भारत राष्ट्र ही है, जिसने आरंभ से ही न जाने कितने आक्रमणों को आत्मसात् करके वहाँ की मिट्टी को जन्मभूमि की पावनता में परिवर्तित कर दिया। तत्कालीन समाज में आचार-विचार-संस्कृति, भाषा और धर्म को लेकर वैमनस्य की खाई बढ़ती जा रही थी। साथ ही धर्मस्वयंभू ठेकेदारों की कर्मकांडी प्रवृत्तियों के द्वारा समाज में अनेक विसंगतियाँ पनप चुकी थीं।

इससे हिंदुओं का एक बड़ा वर्ग पृथक-सा होता जा रहा था। उच्च वर्ग ने प्रत्येक क्षेत्र में अपना अधिकार जमा लिया था। उनका समाज के धर्म, कर्म और जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप पर आधिपत्य था। यद्यपि समाज में समानता स्थापित करने का प्रयास कबीर से पूर्व स्वामी रामानंद द्वारा भी किया गया, किंतु उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली थी। सर्वप्रथम कबीर ने ही इन प्रवृत्तियों के जड़ोन्मूलन का बीड़ा उठाया और कबीर को अभूतपूर्व सफलता मिली।

कबीर ने दूसरे को मिट्टी बताने से पहले स्वयं को कंचन बना लिया था, तब उन्होंने सभी धर्मों की रीति और नीतियों पर प्रहार किया। उन्होंने कहा—

**जोगी गोरख-गोरख करैं,**
**हिंदू राम-नाम उच्चारैं।**
**मुसलमान कहैं एक खुदाई,**
**कबीर को स्वामी, घट-घट बसाई॥**

कबीर की कुछ ऐसी ही उक्तियों ने समाज में क्रांति का मंत्र फूँका, किंतु उनके इन तीव्र प्रहारों में किसी भी समाज के प्रति हीनता की ग्रंथि नहीं थी। उन्होंने जो कुछ भी कहा उससे समाज का स्वरूप परिवर्तित हुआ और उन्हें नई दिशा मिली। कबीर के युग में अंधविश्वास, अनास्था, नास्तिकता, निराशा, भ्रांतियाँ, विवेकहीनता और असमानता के कारण निराशावाद विकसित हो चुका था। मूल्यों में युगांतरकारी परिवर्तन परिलक्षित होने लगा था। सामाजिक कुरीतियाँ, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ आएदिन पतनोन्मुख होती जा रही थीं।

ऐसे परिवेश में एक क्रांतिकारी विचारक संत और मनीषी की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जो सामाजिक विचारधारा को परिष्कृत कर भविष्य का निर्माण कर सके और वह ज्ञान, चिंतन, सत्य को स्थापित कर आध्यात्मिक विकास के मार्ग में उत्पन्न बाधाओं को अपने प्रखर व्यक्तित्व से पराजित कर दे। यदि यह कहा जाए कि उन दिनों की सामाजिक परिस्थितियाँ आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आड़े आ रही थीं तो अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

हिंदी ग्रंथों को आधार मानकर हिंदी साहित्य के मूर्द्धन्य विद्वान आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद आदि का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। वास्तव में कबीर ने किसी पंथ का निर्माण नहीं किया, वरन उन्होंने तो सभी धर्मों एवं दार्शनिक विचारधाराओं की विभिन्न सारणियों के समन्वय से अपनी एक पृथक धारणा बनाई, किंतु पंथ के निर्माण का दायित्व अपने प्रमुख शिष्य **धर्मदास** एवं उनके अनुयायियों के सबल कंधों पर डाल दिया था।

धीरे-धीरे संपूर्ण भारत में कबीर पंथ का विकास हुआ। 17वीं शताब्दी में तो यह पंथ तीव्र गति से विकसित हुआ। दक्षिण भारत में मैसूर, मद्रास आदि में नित्यानंद एवं कमलानंद ने इस पंथ के विकास को गति प्रदान की। 18वीं शताब्दी में कबीर पंथ का बहुत विकास हो चुका था। धर्मदास के अनेक गुरुभाइयों ने विभिन्न स्थानों पर जाकर कबीर पंथ की गद्दी स्थापित की तथा कबीर की विचारधारा का प्रचार

एवं प्रसार किया, परंतु इस पंथ को संगठित एवं विकसित करने का श्रेय धर्मदास को ही है। कबीर के विचारों को व्यापकता प्रदान करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम ठोस कदम उठाया। उनके पश्चात उत्तराधिकारी आचार्यों के द्वारा कबीर पंथ एवं साहित्य को बल मिला।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को कबीर दास के जटिल व्यक्तित्व के सच को खोज निकालने का दुरूह और दुष्कर कार्य का श्रेय प्राप्त है। द्विवेदी जी द्वारा सच्चे अर्थों में कबीर की आत्मा खोज निकालना किसी आविष्कार से कम नहीं है।

यही कारण है कि जहाँ एक ओर कबीर समाज में भी लोकप्रिय बने रहे तो वहीं दूसरी ओर सहज सर्वग्राह्य भी बने रहे। कबीर की वाणी वह लता है, जिससे योगक्षेत्र में भक्ति का बीज अंकुरित हुआ। कबीर के लिए साधना एक विकट संग्राम थी, जहाँ कोई विरला शूरवीर ही टिक सकता है।

कबीर मानव के द्वारा बनाए गए भेदों के बीच भी मानवीय रूप ही स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने अपने संवादों में मानवीय एकता का बीज बोया है, जो पल्लवित-पुष्पित होकर विश्व को मानवता की भावना से ओत-प्रोत करने में समर्थ है। ❑

---

**तर्कशास्त्र के विद्वान पंडित रामनाथ ने नवद्वीप के पास एक निर्जन वन में विद्यालय स्थापित किया था। उसमें वे विद्यार्थियों को शास्त्रज्ञान दिया करते थे। उस समय कृष्णनगर में महाराज शिवचंद्र का शासन था। उन्हें पता लगा कि परम विद्वान पंडित रामनाथ गरीबी में दिन काट रहे हैं तो उनकी सहायता के उद्देश्य से वे वहाँ पहुँचे। उन्होंने पंडित जी से पूछा—''मैं आपकी क्या मदद करूँ ?'' पंडित जी बोले—''भगवत्कृपा से मुझे कोई अभाव नहीं।'' राजा बोले—''मैं घर खरच के बारे में पूछ रहा हूँ।'' पंडित जी ने कहा—''इस बारे में तो गृहस्वामिनी ही अधिक जानती हैं, उन्हीं से पूछें।''**

**राजा ने गृहस्वामिनी के पास जाकर पूछा—''माताजी! घर खरच हेतु कोई कमी तो नहीं है ?'' उन परम साध्वी ने कहा—''महाराज! भगवद्भक्तों को क्या कमी हो सकती है ?'' राजा बोले—''फिर भी माताजी!'' साध्वी बोलीं—''महाराज! कोई कमी नहीं है। पहनने को कपड़े हैं, सोने के लिए बिछौना है। खाने के लिए विद्यार्थी भोजन ले आते हैं। भला इससे अधिक की जरूरत भी क्या है ?'' राजा ने आग्रह किया—''देवी! हम चाहते हैं कि आपको कुछ गाँवों की जागीरें प्रदान करें। इससे होने वाली आय से गुरुकुल भी ठीक तरह से चल सकेगा और आपके जीवन में भी कोई अभाव नहीं रहेगा।'' उत्तर में ब्राह्मणी मुस्कराते हुए बोलीं—''परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य को जीवनरूपी जागीर पहले से ही दे रखी है। जो जीवनरूपी जागीर को सँभालना सीख जाता है, फिर उसे कोई अभाव नहीं रहता।'' राजा निरुत्तर होकर लौट गए।**

---

# निराशा को न होने दें हावी

निराशा एक महाव्याधि है, जो व्यक्ति की संपूर्ण शक्तियों एवं संभावनाओं को कुंद करके रख देती है। इसीलिए निराशा को शास्त्रों में पाप बताया गया है। जिससे स्वयं को आनंद न मिले, औरों को भी कुछ प्रसन्नता न मिले, उस निराशा को अधिक देर तक पालने में क्या समझदारी? जबकि उत्साह जीवन की संजीवनी है। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि उत्साह में बड़ा बल होता है, उत्साह से बढ़कर अन्य कोई बल नहीं है। उत्साही व्यक्ति के लिए संसार में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है।

आशा जहाँ जीवन में संजीवनी शक्ति का संचार करती है तो वहीं निराशा व्यक्ति को मृत्यु की ओर ले जाती है; क्योंकि निराश व्यक्ति जीवन से उदासीन और विरक्त होने लगता है। जीते जी जैसे जीवन मृतप्राय-सा हो जाता है— उसे अपने चारों ओर अंधकार फैला हुआ दिखता है और व्यक्ति मानसिक शिथिलता की अवस्था में आ जाता है। इस तरह उत्साह के अभाव में जीवन दूभर हो जाता है। उत्साहहीन के लिए सब कुछ कठिन हो जाता है।

जीवन से निराश व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति भी उदासीन हो जाता है और इसके प्रति अनिच्छा व हीनता की भावना लिए होता है, परिणामस्वरूप उसके जीवन में किसी तरह की भव्यता और संपन्नता की आशा नहीं की जा सकती। उसके आश्रय में पल रहे स्वजन भी अविकसित ही रह जाते हैं। इस तरह उत्साहहीनता एक तरह का अपराध ही कही जाएगी। इस मन:स्थिति से जितना जल्दी उबरा जो सके, उतना बेहतर रहता है। यह कार्य निराशा के कारणों को समझते हुए संपन्न किया जा सकता है।

निराशाभरी मन:स्थिति के कई कारण हो सकते हैं। यह शरीर में किसी रोग या विकार के कारण पनप सकती है। पेट में अपच, कब्ज, गंदी वायु, अत्यधिक श्रम एवं भाग-दौड़, विश्राम, नींद का अभाव, थकान के कारण भी निराशा व उदासीनता पैदा हो जाती है। हालाँकि इस तरह की निराशा से उबरना अधिक कठिन नहीं होता। जीवनशैली में आवश्यक सुधार, संतुलित जीवनचर्या एवं प्राकृतिक नियमों के पालन के साथ व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करते हुए ऐसी मनोदशा से उबर जाता है।

निराशा का एक बड़ा कारण रहता है अपनों से बढ़ी-चढ़ी अपेक्षाएँ करना और जीवन के यथार्थ को स्वीकार नहीं कर पाना। जैसा हम सोचते हैं, वैसे ही सारा संसार सोचने लगे या हमारी हर बात मानने लगे या सब कुछ हमारे अनुकूल हो चले—ऐसी बचकानी एवं अतिवादी सोच निराशा का कारण बनती है। इस परिवर्तनशील एवं वैविध्यपूर्ण संसार में सब कुछ हमारे हिसाब से हो व यथावत् बना रहे, ऐसी कामना का पूर्ण होना कैसे संभव है?

लाभ-हानि, संयोग-वियोग, बुढ़ापा, मृत्यु के क्षण इस जीवन के यथार्थ हैं, इनको स्वीकार करने से मन अनावश्यक निराशा और विषाद से मुक्त हो जाता है। इस यथार्थता को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं। इस आधार पर परिवर्तन के शाश्वत विधान की लय में जीवन को समायोजित करना एक बड़ा कौशल माना जा सकता है।

वर्तमान को छोड़कर भूत एवं भविष्य में अत्यधिक विचरण भी निराशा का कारण बनता है। कुछ लोग पूर्व में हुए हानि, अपमान, पीड़ा और गलतियों आदि के कारण क्षुब्ध रहते हैं। कुछ भविष्य के खतरों व अनहोनी की भयावह कल्पनाएँ कर अवसादग्रस्त हो जाते हैं। दोनों ही स्थितियाँ वांछित नहीं। भूतकाल में विचरण तथा इसके प्रति ग्लानि-पश्चात्ताप में निराश-हताश रहना गड़े मुरदे उखाड़ने जैसा है, जिससे कुछ सार्थक हाथ लगता नहीं। इसी तरह भविष्य की उधेड़बुन में चिंतित रहना भी उचित नहीं। इनमें से अधिकांश बातें तो घटित ही नहीं होतीं। इसके बजाय पुरानी गलतियों से सबक लेकर, उज्ज्वल भविष्य के संकल्प के साथ वर्तमान में पुरुषार्थ करते रहें तो ऐसे में भूत के विषाद तथा भविष्य की चिंता से उपजी निराशा से छुटकारा पाया जा सकता है।

निराशा का दृष्टिकोण से भी सीधा संबंध रहता है। जैसी सोच व भावनाएँ होंगी, वैसी ही प्रेरणाएँ भी उभरती रहती हैं। यदि दृष्टिकोण एवं भावनाएँ स्वार्थप्रधान हैं और हमें अपने ही लाभ का चिंतन अधिक रहता है, तो ऐसे में

असंतोष, अवसाद और निराशा का हावी होना तय है। इसके विपरीत जितना हम परमार्थपरायण सोच रखते हैं, जनकल्याण का भाव रखते हैं, उतना ही जीवन आशा, उत्साह और प्रसन्नता से भरा होगा।

इस तरह स्वार्थ से परमार्थ की ओर जीवन का पलड़ा पलटते ही निराशा का अँधेरा छँटने लगता है और आशा का नवसंचार होता है। किसी बँधे-बँधाए ढर्रे पर चलते रहने से उपजी ऊब भी निराशा का कारण बनती है। इस अवस्था से उबरने के लिए जीवन में विविधता का होना महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कला, संगीत, साहित्य, खेल, मनोरंजन, लोकसंपर्क, यात्रा, तीर्थाटन, धार्मिक कृत्य आदि जीवन के अनेक पहलुओं को अपनी रुचि के अनुरूप दैनिक जीवनक्रम में स्थान देने से उत्साह के कई आधार तैयार किए जा सकते हैं।

बहुत अधिक सोचते रहने से भी निराशा पनपती है। एक तो ऐसे में कोई ठोस व्यावहारिक कदम नहीं उठ पाता तथा जीवन विफलताओं से भरा रहता है और ऐसे में भूलवश कोई बुराई या गलत कर्म हो गया तो वह मामूली कुकर्म भी भारी अपराध जान पड़ता है। ऐसे में हीनता की भावना पैदा होती है, निराशा घर कर जाती है और मन अवसाद से ग्रसित हो जाता है। इस तरह कुढ़न के समाधान के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मन को लक्ष्य में व्यस्त रखें और बहुत अधिक सोच-विचार न करें। जीवन को एक खेल समझकर जिएँ, इस जीवनरूपी रंगमंच के नाटक में कुशल पात्र की भाँति अपनी भूमिका अदा करें। यदि राह में कोई गलती हो जाए तो उसे अधिक गंभीरता से न लें, बल्कि इनसे सीख लेकर आगे बढ़ें।

फिर जीवन सुबह और शाम, रात और दिन जैसे दोनों पक्षों के साथ मिलकर बनता है। इनके प्रति सम्यक दृष्टि हलके-फुलके जीवन का आधार बनती है। इसलिए केवल अँधेरे पर ही ध्यान केंद्रित न करें, सकारात्मक पक्ष पर भी विचार करें। जीवन के घनघोर अंधकार के बीच उज्ज्वल संभावनाओं के बीज अवश्य मिलेंगे। इनको अपने पुरुषार्थ एवं सतत प्रयास का खाद-पानी देते रहें। ये समय पर पुष्पित-पल्लिवत होकर अवश्य ही जीवन की बगिया को महकाएँगे। इस तरह ईश्वरीय विधान पर अटल आस्था के साथ अपनी संभावनाओं पर सतत कार्य किसी भी तरह की निराशा से उबरने का एक सुनिश्चित राजमार्ग साबित होता है। ❑

***********************************************************************

**एक लड़का अपने घर जा रहा था। रास्ते में उसने देखा कि दो लड़के आपस में झगड़ रहे थे। उनमें से बलवान लड़का कमजोर लड़के को लकड़ी से पीट रहा था। रास्ते चलने वाले लड़के ने बलवान लड़के के पास जाकर पूछा—''क्यों भाई! तुम इसको कितने बेंत लगाना चाहते हो?'' किसी अपरिचित लड़के को बीच में पड़ते देख बलवान लड़के का क्रोध और तेज हो गया। उसने कहा—''क्यों? तुम्हें क्या मतलब? तुम क्या कर लोगे?'' राह चलता लड़का बोला—''भाई! मैं तुमसे अधिक बलवान तो हूँ नहीं, जो इस कमजोर को बचाने के लिए लड़ सकूँ, लेकिन इतना चाहता हूँ कि तुम इस कमजोर लड़के के शरीर पर जितने भी बेंत मारना चाहते हो, उससे आधे मेरी पीठ पर लगा दो। इस तरह इसका आधा कष्ट मैं बाँट लूँगा।'' बलवान लड़का अपने हाथ की लकड़ी फेंककर चला गया। पिटने वाले लड़के की मुसीबत टल गई। वही राह चलता लड़का बड़ा होकर अँगरेजी का प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।**

***********************************************************************

# सबके लिए खुला है सुख का द्वार

बाल्यावस्था से ही भगवान महावीर में वैराग्य की भावना प्रबल होने लगी थी और उनका मन साधना में, तप में लीन होना चाहता था। इसलिए उनका अधिकांश समय चिंतन और मनन में ही व्यतीत होता था। कुमार अवस्था को पार कर युवावस्था में प्रवेश करने पर भी उनका मन सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। संसार के प्राणियों को दु:खी देखकर उनका मन व्याकुल रहता था और वे संसार के दु:खों के कारण और उनको दूर करने के उपाय खोजने के प्रयत्नों में लगे रहते थे।

अंतत: इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने गृह-त्यागकर साधु जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। राजसी सुख-वैभव, माँ की ममता और पिता का प्यार भी उनको अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सके। तीस वर्ष की अवस्था में गृह-त्याग कर वे साधु जीवन व्यतीत करने लगे। उनका अधिकांश समय इसी बात के चिंतन में व्यतीत होता था कि संसार के दु:खों का कारण क्या है? लोग दु:खी क्यों हैं और इन दु:खों को दूर कर अनंत सुख, सच्चा सुख, शाश्वत सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

वे बारह वर्षों तक घोर तपस्या करते रहे। अंतत: बयालीस वर्ष की अवस्था में उनको पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें अतींद्रिय, आत्मिक व परम आनंद की अनुभूति हुई। तत्पश्चात वे तीस वर्षों तक भ्रमण करते हुए लोगों को दु:ख के कारण व दु:ख से मुक्ति के उपाय व शाश्वत सुख, अनंत सुख पाने का मार्ग बताते रहे। तब पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध हुए भगवान महावीर ने कहा कि संसार के जीवों के दु:खों का मूल कारण अज्ञान ही है, अस्तु अज्ञान से मुक्त होने के लिए लोगों को पुरुषार्थ करना चाहिए।

पुरुषार्थ अर्थात चिंतन-मनन, तप-त्याग व ध्यान आदि का निरंतर अभ्यास करते रहने से ही जीव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होते ही जीव को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है और जीव को सभी प्रकार के दु:खों से मुक्ति मिल जाती है। पूर्ण ज्ञान की अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होते ही जीव को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण आदि की प्राप्ति होती है।

मुक्ति की अवस्था में ही आत्मा अनंत काल तक अतींद्रिय आनंद की अनुभूति करती रहती है। यह मुक्ति का द्वार प्रत्येक जीव के लिए समान रूप से खुला हुआ है। चिंतन-मनन, तप, ध्यान आदि के अभ्यास से कोई भी जीव इसे प्राप्त कर सकता है और सच्चे सुख की अनुभूति कर सकता है। जीव की आंतरिक पवित्रता, संयम, अहिंसा, तप आदि ही साधन हैं।

उनका यह स्पष्ट मत था कि मनुष्यों की उच्चता या निम्नता, उनके जन्म व वेश से नहीं, बल्कि उनके कर्मों से ही मानी जाती है। सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं बन जाता, केवल, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता, निर्जन वन में रहने मात्र से ही कोई मुनि नहीं बन जाता और केवल वल्कल वस्त्र पहनने से कोई तपस्वी नहीं हो जाता। इसके विपरीत समता पालने से श्रमण (संन्यासी), ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, चिंतन-मनन व ज्ञान से मुनि तथा तपस्या करने से तपस्वी होता है।

**यज्ञः चेतनः जिगाति।**

*यज्ञ चेतना का जागरण करता है।*

भगवान महावीर ने यहाँ तक कहा कि जो कुछ मैंने कहा है, उसको केवल इसलिए ही सत्य न समझो कि वह मैंने कहा है। यदि आप उसको अपने स्वयं के चिंतन-मनन व अनुभव के द्वारा सत्य पाओ, तभी सत्य समझो। अस्तु यदि हममें से कोई भी जिनमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की सच्ची उत्कंठा है, दु:खों से मुक्ति पाने की सच्ची लगन है व अनंत सुख, शाश्वत सुख पाने की अभिलाषा है, वे महावीर के अनुसार स्वयं तपस्या में प्रवृत्त होकर ही इसे अनुभव कर सकते हैं। सबके लिए खुला है यह शाश्वत सुख का द्वार। ❑

# संयुक्त परिवार की उपादेयता

संयुक्त परिवार एक वृहद् परिवार है। इसमें कई सदस्य होते हैं। यह दो या दो से अधिक प्राथमिक परिवारों का संग्रह है। परिवार के सदस्यों का अपना एक सामान्य निवास होता है। ये सभी धर्म, कर्म, शासन प्रबंधन तथा भोजन आदि की दृष्टि से एकीकृत होते हैं। इस संदर्भ में इरावती कर्वे कहती हैं—एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो सामान्यत: एक ही घर में रहते हैं। ये एक ही रसोई से बना भोजन करते हैं। ये सभी संपत्तियों के सम्मिलित स्वामी होते हैं।

वर्तमान के इस आपा-धापी वाले समय में एकल परिवार की उदासीनता एक सुखद संयुक्त परिवार की चाह की ओर अग्रसर है। अब संयुक्त परिवार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। महानगरों में लोग अब परिवार को संयुक्त रखना चाहते हैं। अपनी सामाजिक व्यवस्था की विशेषता है—संयुक्त परिवार। इस ओर लौटना एक शुभ संकेत है। साथ-साथ रहना हमारी प्रवृत्ति नहीं, बल्कि प्रकृति है। प्रकृति के विपरीत हमें नहीं जाना चाहिए। इससे अनेकों समस्याएँ उभरकर सामने आई हैं, परंतु अब हम संयुक्त परिवार की धारणा को कमजोर करने के दुष्परिणाम से धीरे-धीरे अवगत होने लगे हैं।

'परिवार' से अलग होकर परिवार ही बनता है, पर उस परिवार का महत्त्व परिवार जैसा नहीं होता है। अलग होने पर टूटने का दरद भी बना रहता है। उस दरद का एहसास उस परिवार को हर पल बना रहता है। संयुक्त परिवार में चिंता हो या चिंतन हो, दोनों में संयुक्त भाव रहता है। जब चिंतन में समानता होगी और चिंता में सामूहिकता होगी तो वह स्वयं बँट जाती है। चिंतन में सभी के विचार से उत्पन्न दृष्टि परिवार को बाँधती है। वही चिंता जब सामूहिक होती है तो वह भी मिट जाती है।

संयुक्त परिवार में सबसे बड़ी विशेषता है कि परिजनों से जीवंत संपर्क और संबंधों में मधुरता रहती है। कटुता का कोई स्थान नहीं होता। 'परिवार' में जो एक भाव अपनत्व का स्वयं प्रेरणा से आता है, उसी से सारा परिवार बँधा रहता है। संयुक्त परिवार में अपनेपन का महत्त्व भी बढ़ जाता है। बड़ों का प्यार छोटों से बना रहता है। स्नेह का यह वातावरण बहुत मजबूत होता है। एकदूसरे की परस्पर चिंता सदैव बनी रहती है।

पूरे परिवार के संबंध दृढ़ एवं मजबूत बने रहते हैं। दीदी, भाई, काका-काकी, दादा-दादी, बुआ-फूफा, भतीजा-भतीजी, पोता-पोती, मुन्ना-मुन्नी, लाला-लल्ली सभी एकदूसरे से प्यार के धागे से जुड़े रहते हैं। देवरानी हो या जेठानी हो, सभी को सभी के बच्चे अपने ही लगते हैं। हर संबंधों की परिभाषा स्वयं संयुक्त परिवारों में परिभाषित होती रहती है। कभी घर खाली नहीं लगता। घर सुनसान नहीं होता है। घर में किलकारी बनी रहती है। माधुर्य भाव सदैव बना रहता है। किसी चीज की कमी महसूस नहीं होती। समाज पर संयुक्त परिवार का प्रभाव भी अच्छा पड़ता है।

संयुक्त परिवार में 'अपना-पराया' का भेदभाव नहीं रहता है। खेल में, पढ़ाई में, घर के कामों में, बाजार जाने में, घर-बीमारी में सगे-संबंधों के बीच में संयुक्त परिवार का प्रभाव मधुर रहता है। एकाकी विश्वास के बजाय संयुक्त विश्वास का महत्त्व ज्यादा रहता है। काका-काकी या घर का जो बड़ा है, उसके बड़प्पन और जो छोटा रहता है उसके अल्हड़पन में सदैव मनोमिलन बना रहता है।

बचपन से ही एकमेव-एकता के सूत्र में पूरे परिवार को चलाना निश्चित दिशा तो देता ही है, साथ ही 'एकता' की प्रबलता को और भी प्राकट्य करता है। मिल-बाँटकर कार्य करना, सामूहिक रूप से भोजन करना, इन सभी संस्कारों का उदय होता रहता है। दु:ख भी बाँटना है और सुख भी। संयुक्त परिवार में दायित्वबोध एवं जिम्मेदारी का अनुभव होता है।

एकदूसरे के लिए दायित्वों को समझना संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी देन है। मुंडन से लेकर विवाह तक के संस्कारों का स्वरूप अद्‌भुत है। इसकी चर्चा गाँव से लेकर शहरों में भी होती है। सकारात्मकता संयुक्त परिवार की सबसे बड़ी देन है। यह भाव प्रारंभ से ही पनपने लगता है।

संयुक्त परिवार में एकदूसरे का सहयोग करना बोझ नहीं, बल्कि दायित्व समझा जाता है। इससे दूसरे के पूरक होकर रहने की क्षमता भी बढ़ती है। संयुक्त परिवार के आँगन में संस्कार सदैव जीवंत रहते हैं। संयुक्त परिवार आज की सबसे महती आवश्यकता है। संस्कार जो धीरे-धीरे घर, परिवार और समाज में से लुप्त होते जा रहे हैं। संयुक्त में 'युक्त' यानी जुड़ने का भाव है। सदैव जुड़े रहने का भाव संयुक्तता में बना रहता है। आज इन भावों के अलावा हर कार्य हो रहा है।

संयुक्त परिवार में बच्चों के ही नहीं, बड़ों के भी प्रात: जागने से लेकर सोने तक की चिंता पूरा परिवार करता है। इतना ही नहीं, यदि कोई कमजोर भी पड़ता है या हो जाता है तो वह संयुक्त परिवार की मजबूती में मजबूत हो जाता है। सभी उसकी चिंता करते हैं, सतत चलते रहना परिवार का स्वभाव हो जाता है। पूरे परिवार में उदारता का भाव नित्य उत्पन्न और मजबूत होता जाता है। 'जहाँ हो उदारता, वहाँ नहीं रह सकती दरिद्रता' यह कहावत संयुक्त परिवार में चरितार्थ होती है।

आज परिवार एवं समाज की दिशा भटक गई है। लोग विवाह होते ही तत्काल अलग रहने की योजना बनाने लगते हैं। स्थिति अत्यंत विपन्न हो गई है। परिवार के मुखिया जो खुद समझदार होते हैं, वे घर-द्वार बाँटने लगते हैं। कमरा तक अलग कर लेते हैं। हर घर का अलग स्वभाव, अलग चलन होता है, जो बहुत खतरनाक है। न आने का समय, न जाने का समय नियत रहता है। संयुक्त परिवार में प्रात: का पूजन एवं संध्या की आरती में सभी की उपस्थिति रौनक पैदा करती है। आज तो स्थिति बद-से-बदतर हो चली है। कितना अकेले रह सकते हैं और कितनी जल्दी अकेले हो सकते हैं, उसमें लोग पारंगत हो रहे हैं। स्वयं और स्वयं से बना परिवार ही अपना परिवार मानने वाले लोग अधिक हो गए हैं।

ऐसे वातावरण में व्यक्ति सदैव एकाकी-सा और ठगा-सा रहता है। यदि कहीं जाना है तो या तो परिवार के साथ जाओ, या फिर उसे अकेले या किसी के भरोसे छोड़ना पड़ता है। संयुक्त परिवार बोझ लगता होगा, पर एकाकी परिवार उससे भी बड़ा बोझ हो जाता है। छोटी-छोटी बातों पर अकेलापन आड़े आता है—परिवार दिनभर अकेले।

अगर पति-पत्नी दोनों नौकरी में हैं तो बच्चे अकेले हो जाते हैं। सब कुछ अलग-थलग पड़ जाता है, अगर कोई बीमार पड़ जाए तो भी कष्ट में, यह दरद संयुक्त परिवारों में नहीं होता। अकेले और संयुक्त परिवार से अलग रहने में अनेकों नुकसान सामने आते हैं। सबसे पहले अपने परिजनों के संबंध ही भूल जाते हैं। न काका-काकी, न दादा-दादी, न बुआ जी न भाई जी, न दीदी, न भैया सभी बिसर जाते हैं। सब कट जाते हैं और हम दो- हमारे दो में सभी संबंधों की तिलांजलि हो जाती है। संबंधों के स्मरण नहीं, विस्मरण का क्रम चलने लगता है।

एकल परिवार खतरनाक होता जा रहा है। जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, भौजी-भैया जैसे संबंधों में कमी आ रही है। हम संबंधों की उपेक्षा करने लगे हैं। धीरे-धीरे हम अकेले रह जाते हैं। जीवन में अकेले रहने का एकाकीपन मन पर पत्थर से ज्यादा भारी होने लगता है। ऐसे में दरद भी नहीं बँटता और लोग सुख का आनंद भी नहीं ले पाते। आँगन का एक होना पूरे परिवार के मन को एक कर देता है। बच्चे के सिर पर दादी के हाथों की सोने से पहले की थाप और छोटी-छोटी पौराणिक कहानियाँ बिना किसी पाठ्यक्रम के ज्ञान से सराबोर कर देती थीं। सभी संबंधों का बचपन में शरीर से स्पर्श एहसास कराता था कि हम सभी के हैं।

एक छोटी सी कथा है—''एक ने, एक के, जन्म पर पूछा कि बताओ—'मनुष्य के जन्म और जानवर के जन्म में क्या अंतर होता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते समय कहा गया—'मनुष्य जब जन्म लेता है तो वह किसी का बेटा-बेटी, भाई अथवा बहन होता है अथवा किसी का चाचा होता है, परंतु जानवर किसी का कुछ भी नहीं होता है। मनुष्य में मन और भाव होता है और यह रिश्ते को जन्म देता है। जानवर किसी रिश्ते को जन्म नहीं देता।' इस सच्चाई को कोई नकार नहीं सकता।''

संयुक्त परिवार की दो ज्वलंत घटनाएँ हैं। ग्वालियर में एक परिवार है, जिसके तीन भाई साथ रहते हैं। इनके माता-पिता भी साथ ही रहते हैं। एक चूल्हे पर ही पूरे परिवार को भोजन बनता है। पूरे परिवार में लगभग दस बच्चे हैं। सभी एक साथ रहते हैं। उस परिवार की एकता और समता देखने लायक है। एक बार बीच वाले भाई के बच्चे की तबीयत खराब हुई तो बड़े भाई की पत्नी (ताई जी)

उनके बच्चों के साथ बड़ी माँ की तरह, उसका मुंबई में इलाज करवाती रहीं। माँ ग्वालियर में रहीं और ताई जी मुंबई में। घर के संयुक्त परिवार का यह विश्वास और अपनापन अनूठा था। ऐसे स्नेह के वातावरण में असंभव भी संभव होता है। बच्चा ब्लड कैंसर से पीड़ित था। वह पूरी तरह ठीक हो गया।

संयुक्त परिवार की एकता-प्रतिबद्धता के आगे सभी को नतमस्तक होना पड़ता है। तीनों भाई दुकान बंद करके आते हैं और वे एक-एक दिशा में स्थित भगवान के दर्शन कर घर लौटते हैं। घर पहुँचकर बड़े भाई को नगद (कैश) दे देते हैं। उसके बाद माँ को पूरी जानकारी देते हैं। फिर तीनों भाई एक साथ भोजन करते हैं। इस तरह का यह अनूठा संयुक्त प्रेम देखते ही बनता है।

इसी तरह इंदौर का एक परिवार है, जो सात भाई हैं। सातों ने एक शृंखला में मकान बनवाया है। सभी एक साथ रहते हैं। अलग-अलग मकान होने के बाद भी पूरा घर एकदूसरे से जुड़ा हुआ है। एक संयुक्त हॉल है, उसी में एक बड़ा-सा टीवी लगा हुआ है, सभी भाई, सभी बच्चे उसी हॉल में रहते हैं। साथ-साथ बैठते-उठते हैं। सभी का चौका एकदूसरे के जाने लायक बना हुआ है, सभी आते-जाते हैं।

एक, दो भाई यदि प्रवास पर (बिजनेस दौरे पर) रहते हैं, इसके बावजूद भी घर पर चार-पाँच भाई बने रहते हैं। अपनापन एवं प्यार की ऐसी मिसाल बहुत कम जगह देखने को मिलती है।

संयुक्त परिवार संवेदनशीलता का अटूट बंधन है। एकाकीपन या अकेले रहना मनोरोग को जन्म देता है। यह परिजनों से दूर रहने जैसा अभिशाप जैसा ही हो जाता है। संयुक्त परिवार आज के भौतिकतावादी युग में परम आवश्यक है। संयुक्त परिवार में देश बसता है, हमारी संस्कृति, परंपराएँ और मर्यादाएँ बसती हैं। एकता के सूत्र में बँधे रहने वाले संयुक्त परिवार में सारा संसार रमता है। भारतीय जीवनशैली का नाम ही है—संयुक्त परिवार।

परिवार का आधार संवेदना है। संवेदनशील भावनाओं की डोर से रिश्तों की मिठास एवं मधुरता बनी-बुनी रहती है। संयुक्त परिवार में रिश्तों की यह मधुरता अधिक व्यापक होती है। इससे परिवार के सदस्यों का श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास होता है। व्यक्तित्व के गुण नैसर्गिक रूप से विकसित होते हैं। संयुक्त परिवार श्रेष्ठ व्यक्तित्व के निर्माण का आधार है। यहीं पर सुख-शांति एवं समृद्धि रहती है। इसी को स्वर्गीय दिव्यता कहते हैं। अत: हमें संयुक्त परिवार में रहना चाहिए। ❑

**संत स्वामी कृष्ण महाराज वृंदावन के एक आश्रम में रहकर धर्म प्रवचन कर रहे थे। वे सदैव सभी को सत्प्रेरणाएँ देते रहते थे। एक दिन देवोत्थान एकादशी का पर्व था। कुछ साधु जन आश्रम के संचालक के साथ झगड़ने लगे; क्योंकि एकादशी उपवास की खाद्य सामग्री तैयार होने में देर हो गई थी। स्वामी जी ने जब यह दृश्य देखा तो बहुत दुःखी हुए।**

**स्वामी जी ने क्रुद्ध साधुओं से कहा—"आप लोग उपवास का सच्चा अर्थ ही नहीं समझ पाए हैं। उपवास का अर्थ है—'प्रभु के समीप वास करने की साधना करना।' उपवास के नाम पर स्वादिष्ट भोजन करना, प्रभु की समीपता से दूर ले जाने वाला कार्य है। आप लोग साधु होकर झगड़ा कर रहे हैं। यह शोभनीय नहीं है।" यह सुनकर सभी साधुओं को अपनी गलती पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने इसके लिए स्वामी जी से क्षमा माँगी। उन्हें उपवास का सच्चा अर्थ समझ में आ गया था।**

# आध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक सोपान

आध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक सोपान कुछ इस तरह से हैं, जिसके आधार पर साधना-पथ की प्रगति को आँका जा सकता है, साधक जीवन को कसा जा सकता है। श्रद्धा पहला तत्त्व है। हमारी अपने आध्यात्मिक आदर्श, इष्ट या गुरु में कितनी आस्था व श्रद्धा है और यह तय होता है हमारी आध्यात्मिक चाह की तीव्रता के अनुरूप।

यदि आध्यात्मिक अभीप्सा नहीं है तो साधक गुरु को एक व्यक्ति मानने की भूल कर बैठता है और अपने स्वार्थ की पूर्ति एवं अहंकार की तुष्टि का माध्यम मानकर चलता है, जिसका परिणाम अंततः निराशा के रूप में ही हाथ लगता है। स्मरण रहे—गुरु एक व्यक्ति दिख सकता है, लेकिन वह ईश्वरीय चेतना का संवाहक जीवंत विग्रह होता है, स्वयं ईश्वरमय होता है। उससे सांसारिक संबंध जोड़ना आध्यात्मिक रूप में साधक को अधिक दूर तक नहीं ले जा सकता।

हम आध्यात्मिक पथ पर कितना बढ़ रहे हैं, इसका परीक्षण हमारी भावदृष्टि है कि हम कितना सर्वत्र ईश्वरीय चेतना की उपस्थिति अनुभव कर पा रहे हैं, कितना हम इस जग को सीता-राममय देख पा रहे हैं, कितना हमें इसमें शिव-शक्ति का चैतन्य स्वरूप आभासित हो रहा है। इसकी व्यावहारिक कसौटी है कि हमारी भावदृष्टि में कितनी पवित्रता आ रही है तथा इसमें दूसरों के प्रति कितने शुभ भाव विकसित हो रहे हैं, जो हमारी वाणी-व्यवहार के माध्यम से व्यक्त होते हैं।

साधक का जीवन कर्त्तव्यों के प्रति कठोर होता है और अथक श्रम से युक्त होता है, लेकिन यह निरुद्देश्य नहीं होता। अपने स्वधर्म के अनुकूल यह एक स्पष्ट दिशा लिए होता है तथा इसके आधार पर उसकी प्राथमिकताएँ स्पष्ट होती हैं, जिसे सांसारिक प्रलोभन, दबाव या अंधड़ विचलित नहीं कर सकते। इस तरह एक आध्यात्मिक साधक का जीवन अनुशासित होता है, सुव्यवस्थित होता है और वह आलस्य-प्रमाद को प्रश्रय नहीं देता तथा सतत परम लक्ष्य की ओर गतिशील रहता है।

आध्यात्मिक जीवन—'सादा जीवन-उच्च विचार' का मूर्तरूप होता है। जीवन के उच्च मूल्यों से प्रेरित होता है, जिसका लोभ-मोह से अधिक लेना-देना नहीं रहता। जितना जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है, इतना अर्जन करता है, लेकिन अनावश्यक संग्रह से बचता है। वह आत्मावलंबी जीवन जीता है। इसे अपना कर्त्तव्य मानते हुए परिश्रम करता है तथा आवश्यक संचय करता है, लेकिन इसके प्रति मोह नहीं रखता।

आध्यात्मिक जीवन अपार धैर्य एवं तप का प्रतीक होता है, जिसमें उदारता एवं सहिष्णुता का अभ्यास किया जाता है। इसकी पहली प्रयोगशाला अपना परिवार या कुटुंब होता है। वह गृहस्थ में एक तपस्वी की भाँति जीता है व तपोवन के रूप में संयम, सेवा और सहिष्णुता जैसे सद्गुणों का अभ्यास करता है और इसी का अभ्यास फिर समाज-संसार के व्यापक फलक पर सेवा-साधना के रूप में करता है। साथ ही वह दूसरों की उन्नति में प्रसन्नता का भाव रखता है और जरूरतमंदों की सहायता करता है।

स्वाध्याय-सत्संग आध्यात्मिक अभीप्सु के जीवन का अभिन्न अंग होते हैं और इनके प्रकाश में वह नित्य स्व-मूल्यांकन करता है। वह अपनी त्रुटियों एवं कमियों पर नित्य कार्य करता है। सबके प्रति कृतज्ञता के भाव से भरा वह 'शब्द ब्रह्म' का साधक होता है, अपने शब्द एवं वाणी का संयमित उपयोग करता है। प्रपंच से सर्वथा दूर रहता है और परनिंदा में विश्वास नहीं करता। वाणी की इस साधना के साथ वह अपनी वाक्शक्ति को परिष्कृत करता है और सबके साथ सामंजस्यपूर्ण व्यवहार रखता है, लेकिन दुष्टता एवं धूर्तता का अपने शिवसंकल्प के साथ प्रतिकार करता है।

आध्यात्मिक पथिक नित्य ध्यान के लिए कुछ समय अवश्य निकालता है, जो स्थूल कर्मकांड से अधिक सूक्ष्मस्तर पर सक्रिय होता है। मन के आसन में स्थिर होकर जीवन की गहराई में उतरता है तथा अपने जीवन के परम सत्य की ओर उन्मुख रहता है और इसके साथ साक्षीभाव से जीवन के खेल व प्रभु की लीला को देखता है और विश्वरूपी रंगमंच

पर अपनी भूमिका निभाता है। जीवन के अनुभवों की जनहित के निमित्त सुंदर एवं कल्याणकारी अभिव्यक्ति करता है। उसका हर सृजन **सत्यं-शिवं-सुंदरम्** के भाव से आप्लावित रहता है।

आध्यात्मिक जीवन एक योद्धा का जीवन होता है, जो आंतरिक एवं बाह्य दोनों स्तर पर चुनौतियों से जूझना जानता है। दोनों मोर्चों पर बुराई एवं दुष्टता से डटकर मुकाबला करता है और अपने सत्य के प्रति अडिग रहता है। जहाँ उसका अपना बल कम पड़ता है, वहाँ दैवी अवलंबन लेने से वह नहीं चूकता। सत्य एवं धर्ममार्ग पर चल रहे आध्यात्मिक साधक के लिए उसका धर्मनिष्ठ जीवन दैवी सुरक्षा कवच का कार्य करता है, जिसका वह किसी भी कीमत पर परित्याग नहीं करता और संयोगवश यदि कुछ गलती हो जाए तो उसका परिष्कार-परिमार्जन करता है तथा सतत अपनी चेतना को परिष्कृत करता रहता है। तप और योग का अवलंबन लेते हुए आध्यात्मिक साधक अपने गुरु के बताए मार्ग पर आगे बढ़ता है और जीवन के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है। ❑

**राजहंस प्रतिवर्ष सुदूर देशों का प्रवास किया करते और कठोर शीत के चतुर्मास समाप्त होते ही मानसरोवर वापस आ जाते थे। ऐसे ही प्रवास के दौरान राजहंसों की टोली समुद्रतट पर कोणार्क राजवंश के उद्यान पर उतरी। वहाँ का माली इन राजहंसों का प्रतिवर्ष आतिथ्य करता था। इस बार जब राजहंस लौटने लगे तो माली रास्ते के लिए भी कुछ देने लगा तो राजहंसों ने मना करते हुए कहा—"तात! संचय पाप है। यह खाद्य अभावग्रस्तों को दे देना। कुछ भी मिले, कहीं से भी मिले को उदरस्थ कर लेना काकवृत्ति वाले घटिया लोगों का काम है।"**

**राजहंस के ये वचन वहीं पास के वृक्ष पर बैठे कौवे ने सुन लिए। वह पंख फुलाता हुआ राजहंसों के पास आकर उन्हें भला-बुरा कहने लगा और बोला—"राजहंसो! तुम्हें अपनी श्रेष्ठता का अभिमान है। मुझसे प्रतियोगिता करो। इस विशाल समुद्र को पार करने की जिसमें शक्ति होगी, वही श्रेष्ठ माना जाएगा।" राजहंसों ने उसे बहुत समझाया, पर वह नहीं माना और हंसों के साथ उड़ने लगा। आगे-आगे कौवा और पीछे राजहंसों की टोली, कौवा जल्दी ही थक गया। वह गिरकर समुद्र में डूबने वाला ही था कि राजहंसों को दया आ गई और उन्होंने उसे अपनी पीठ पर बैठाकर पीछे लौटकर उसके स्थान तक पहुँचा दिया। राजहंस बोले—"तात्! अपनी शक्ति से बढ़कर प्रदर्शन उचित नहीं होता, इससे अनर्थ हो सकता है। मिथ्या अभिमान नहीं करना चाहिए।" इतना कहकर राजहंसों की टोली अपनी यात्रा पर उड़ चली।**

# उपासना का आधार

सावन में बरसती बारिश की अमृत बूँदों को पी-पीकर पूरी वसुंधरा बाग-बाग हो उठती है। ग्रीष्म की भीषण तपन से तपी हुई, जली हुई, सूखी हुई, मुरझाई हुई, वीरान हुई वसुंधरा बारिश की रिमझिम फुहारों से पुन: सौंदर्य पाकर नए रूप में सज-सँवर जाती है। फिर तो उसके गर्भ में पड़े विविध प्रकार के फलों-फूलों, वृक्षों व अन्य वनस्पतियों के बीज अंकुरित होने लगते हैं, विकसित होने लगते हैं और देखते-ही-देखते वे अपने मूलस्वरूप में दृश्यमान हो उठते हैं, प्रगट हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि यह सब एक प्रक्रिया के तहत ही तो होता है।

उसी प्रकार जीवात्मा में परमात्मा का अंश है। जीवात्मा में बीज रूप में परमात्मचेतना की चिनगारी है। सत्-चित्-आनंदस्वरूप परमात्मा का अंश होने के कारण जीवात्मा भी सत्-चित्-आनंद के बीज हैं, पर इसकी हमें तब तक अनुभूति नहीं हो पाती, जब तक उस बीज से सत्य अंकुरित होता नहीं, चित् अंकुरित होता नहीं, आनंद अंकुरित होता नहीं। जिनकी आत्मा में परमात्मचेतना के बीज अंकुरित हो गए, वे सभी निहाल हो गए, वे बुद्ध हो गए, वे महावीर हो गए, वे कबीर हो गए, वे तुलसी हो गए, वे सूर हो गए, वे रैदास हो गए, वे मीरा और मदालसा हो गए, वे ऋषि हो गए, वे महर्षि हो गए, वे ब्रह्मानंद और परम आनंद के अधिकारी हो गए, वे सत्-चित्-आनंद हो गए।

हमारी आत्मचेतना से परमात्मचेतना प्रकट हो सके, हमारी आत्मा में बीज रूप में सन्निहित सत्, चित् और आनंद प्रकट हो सके इस हेतु ही भारतीय ऋषियों, मनीषियों व अध्यात्मविदों के द्वारा विविध प्रकार के साधना-मार्ग दिखाए गए हैं। जप, तप, ध्यान, ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि उसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के विविध साधन हैं, मार्ग हैं, उपाय हैं। प्रार्थना, उपवास, उपासना आदि भी उसी परम उद्देश्य की प्राप्ति के साधन हैं।

हम अपनी अभिरुचि के अनुसार किसी भी साधना मार्ग का अनुसरण कर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि हममें से बहुत से लोग विविध प्रकार के साधना-मार्ग पर चलते हुए दिखते तो हैं, पर फिर भी वे अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते। वे अपने भीतर परमात्मचेतना को प्रकट नहीं कर पाते। वे अपने निज स्वरूप सत्-चित्-आनंदस्वरूप की अनुभूति नहीं कर पाते।

आखिर ऐसा क्यों है भला? ऐसा इसलिए है कि अध्यात्म-साधना के नाम पर हम बाहर-ही-बाहर की यात्रा करते रहे हैं, हम प्रभु की अर्चना नहीं, प्रभु से याचना करते रहे हैं, अपनी याचना को ही हम उपासना माने बैठे हैं। याचना को ही हम अर्चना माने बैठे हैं। अपनी बाहर-बाहर की यात्रा को ही हम अंतर्जगत की यात्रा माने बैठे हैं। हम उसे ही ध्यान माने बैठे हैं, हम उसे ही भक्ति माने बैठे हैं।

जब हमारी आत्मा पर ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान की अमृतवर्षा होगी तभी, हमारी अपनी आत्मा में ही सन्निहित सत्-चित्-आनंद प्रकट हो सकेंगे। निष्काम कर्म, निष्काम प्रेम आदि के द्वारा ही हमारी आत्मा से परमात्मचेतना प्रकट हो सकेगी। पर इस हेतु चाहिए सच्ची साधना। इस हेतु चाहिए सच्ची उपासना, सच्ची प्रार्थना। इस हेतु चाहिए अपनी आत्मा में प्रभु का सतत चिंतन, सतत ध्यान। इस हेतु चाहिए हृदय में सच्ची ईश्वरभक्ति अर्थात प्रभु के प्रति निश्छल, निष्कपट प्रेम। इस हेतु चाहिए निष्काम कर्म अर्थात कर्मयोग की साधना। सच्ची साधना से, सच्ची उपासना से, सच्ची भगवद्भक्ति से ही तो हमारी अंतरात्मा का विस्तार हो सकेगा, हमारी अंतरात्मा में परमात्मा प्रकट हो सकेंगे।

सच्ची साधना से, उपासना से, प्रार्थना से, ध्यान से, भक्ति से ही तो हमारी चित्तशुद्धि होगी, हमारा मन निर्मल होगा, निश्छल होगा, निष्कपट होगा और हमारी आत्मा से परमात्मा प्रकट हो सकेंगे। यह परिवर्तन, यह रूपांतरण बाह्य नहीं, बल्कि आंतरिक होगा। ईश्वर की सच्ची उपासना, प्रार्थना, भक्ति हेतु हमें हमारे अंदर आमूलचूल परिवर्तन करने होंगे। हमें हमारी रीति-नीति और मान्यताओं में आमूलचूल परिवर्तन करने ही होंगे। हमें शरीर, मन और आत्मा इन तीनों स्तरों पर ही काम करने होंगे। हमें शरीर के

स्तर पर शारीरिक साधना करते हुए शरीर को स्वच्छ एवं पवित्र बनाकर इसे आत्मरूप भगवान का मंदिर बनाना ही होगा। हमें शरीर के कोने-कोने को पवित्र बनाना ही होगा। हमें हमारे खान-पान में सात्त्विकता व पवित्रता का ध्यान रखना होगा। भगवान के मंदिर रूप देहरूपी देवालय को नशा, मांसाहार, अनीति से प्राप्त अन्न एवं दुराचार, व्यभिचार से दूर रखना होगा। हमें इंद्रियसंयम का यथोचित पालन करना होगा।

मन को ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, वासना आदि व नकारात्मक विचारों से मुक्त कर उसे पवित्र बनाने हेतु सतत शास्त्रों व बुद्धपुरुषों द्वारा रचित सत्साहित्य का स्वाध्याय करना होगा। हमें व्रत, उपवास के अभ्यास के साथ-साथ अपने मन को सतत सकारात्मक व पवित्र भावों, विचारों से पवित्र करते रहना होगा। हमें कुसंगति से दूर रहकर सत्संग का सेवन करते रहना होगा। हमें हमारी आत्मा में सतत प्रभु के साकार या निराकार स्वरूप का चिंतन, स्मरण, ध्यान करते रहना होगा। इस प्रकार के सतत अभ्यास से हमारी साधना में, प्रार्थना में, उपासना में गहराई आती जाएगी।

हम जब भी उपासना में बैठें, तब प्रभु के समक्ष अपना संपूर्ण आत्मदान कर दें, आत्मसमर्पण कर दें। उपासना का अर्थ ही है—पास बैठना। किसके पास बैठना? प्रभु के पास बैठना। वे प्रभु सत्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, आनंदस्वरूप हैं, जो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं और जो हमारे भीतर आत्मचेतना के रूप में हर पल मौजूद हैं। उपासना में पूर्ण समर्पण आवश्यक है। उपासना में कोई याचना नहीं, कोई इच्छा नहीं, कोई माँग नहीं, कोई राय नहीं। उपासना में ऐसी कोई भावना नहीं कि यह होना ही चाहिए, यह हो ही नहीं सकता, यह होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए। इन सभी मान्यताओं को कामनाओं को, इच्छाओं को प्रभु को अर्पण कर देना होगा।

हृदय को समस्त इच्छाओं से और बुद्धि को समस्त निज-संकल्पों से मुक्त कर लेना होगा, प्रत्येक द्वंद्व का त्याग करना होगा, सबमें स्वयं को और स्वयं को सबमें देखना होगा, इस अखिल ब्रह्मांड को भगवान की अभिव्यक्ति माननी होगी। उपासना में अपनी समस्त सत्ता को सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमात्मा के हाथों में सौंप देना होगा। स्वयं को प्रभु के हाथों इस तरह सौंप देना होगा, जैसे कि इंजन ड्राइवर के हाथों में स्वयं निष्क्रिय रहता है, फिर ड्राइवर की इच्छा से ही इंजन कार्य करता है।

उपासना में, ध्यान में, भक्ति में, प्रेम में हम जब स्वयं को भगवान के हाथों इस प्रकार सौंप देते हैं तभी भागवत प्रेम, सामर्थ्य और निर्विकार बुद्धि अपना कार्य करते हैं और अपनी भागवत लीला को चरितार्थ करते हैं। इसके साथ ही जीवात्मा में नर रूप में जो नारायण बैठे हैं, वह शक्तिशाली, ज्ञानवान और आनंदमय रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं। जैसे समिधा अग्नि में बैठकर अग्निमय हो जाती है। वैसे ही परमात्मा की उपासना व ध्यान करते-करते नर के अंदर ही नारायण अभिव्यक्त होने लगते हैं।

हमें अहंकार को भी जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। जिससे हम पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति और ज्ञान तथा भागवतसत्ता की पूर्ण कर्मण्यता को प्राप्त कर सकें व प्रभु की यह इच्छा पूर्ण हो सके। जब हम उपासना में, ध्यान में, प्रार्थना में, भक्ति में, पूजा में, अर्चना में स्वयं को भगवान के हाथों इस प्रकार पूर्णतः सौंप देते हैं, तब फिर हमारे लिए अन्य किसी यौगिक क्रिया की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। तब स्वयं ईश्वर ही हममें साधक हो जाते हैं और वही सिद्धि और उनकी भागवतशक्ति हममें कार्य करने लगती है।

जब अपना संपूर्ण आत्मदान कर देने पर भागवतशक्ति हमारे भीतर कार्य करने लगती है, तब हम स्वयं ईश्वर के हाथों एक यंत्रमात्र बनकर रह जाते हैं। ईश्वर ही हमारी आत्मा में बैठकर हमें संचालित और नियंत्रित करने लगते हैं। हमें उनसे याचना करनी ही नहीं पड़ती; क्योंकि वे जानते हैं कि इस जगत् के लिए और इस जगत् में तथा इसके बाहर, हममें से हरेक के लिए क्या करना सर्वोत्तम है। चिकित्सक को यह बताने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि हमारे लिए कौन-सी औषधि उपयोगी है, जरूरी है अथवा नहीं है। सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी प्रभु को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हमें क्या चाहिए या नहीं चाहिए।

अस्तु साधक को, उपासक को, भक्त को चाहिए कि वह स्वयं को संपूर्ण शक्ति के साथ अपने आप को भगवान के हाथों में सौंप दे। भगवान के समक्ष कोई शर्त न रखे, कोई माँग न रखे, कोई वस्तु न माँगे, यहाँ तक कि मोक्ष, मुक्ति

और योग की सिद्धि भी न माँगे, सिवाय इसके कि आपमें और आपके द्वारा भगवान के संकल्प की ही प्रत्यक्ष पूर्ति होती रहे।

जो भक्त, जो साधक भगवान से कुछ माँगते हैं, उनको वे उस वस्तु को ही देते हैं, जिसे वे माँगते हैं, किंतु जो लोग अपने आप को ही भगवान को दे देते हैं अर्थात स्वयं को भगवान के हाथों सौंप देते हैं और कुछ नहीं माँगते, उनको वे उन सभी चीजों को तो देते ही हैं, जिनको वे माँगते हैं या जिनकी उन्हें आवश्यकता हुई होती है, बल्कि इनके अतिरिक्त वे स्वयं अपने आप को और अपने प्रेम को भी उन्हें प्रदान करते हैं।

साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि हमारी साधना, हमारी प्रार्थना, हमारी उपासना कुछ देर बैठकर, खड़े होकर, देवालयों में जाकर पूजन-अर्चन करने मात्र तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि पूजा, उपासना, प्रार्थना, ध्यान की निश्चित विधि पूरी कर लेने के बाद भी हमारी पूजा, उपासना, ध्यान, जप, प्रार्थना आदि हमारे कर्म से, व्यवहार से सदैव प्रकट होते रहने चाहिए। हम व्यापारी, उधोगपति, किसान, चिकित्सक, अध्यात्म आदि जो भी हों हमारे लिए हमारा कर्त्तव्य कर्म भी भगवद्उपासना ही होना चाहिए। इस हेतु हमें हमारा कर्त्तव्य कर्म पूरी ईमानदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी, समझदारी व सच्चाई के साथ ही करना चाहिए; क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ईश्वर हमारे हर कर्म का साक्षी है। अत: उससे हमारा कोई भी कर्म छिपा हुआ नहीं रह सकता।

इसलिए युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में कहें तो ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर हमें ईश्वर के अनुशासन को अपने जीवन में उतार लेना चाहिए और अपना कर्त्तव्य कर्म करते रहना चाहिए। हमें अनीति से प्राप्त सफलता के बजाय नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करना चाहिए।

जीवन में हमें दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसे हम स्वयं के लिए पसंद नहीं करते या नहीं चाहते। कर्म करते हुए हमें ईश्वरीय कर्मफल विधान का स्मरण रहना चाहिए। कर्त्तव्य कर्म करते हुए हमें कर्त्तापन की भावना से विलग होकर हमारे अंदर भागवत शक्ति की जो क्रिया हो रही है, प्रभु हमें कैसे यंत्रवत् चला रहे हैं, इसे हमें साक्षीभाव से देखते रहना चाहिए।

इस प्रकार से की गई साधना, उपासना ही साधक के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन, रूपांतरण ला पाने में समर्थ सिद्ध होती है और साधक को अपने अभीष्ट लक्ष्य, परम लक्ष्य, परम प्रभु के परम स्पर्श की, परम प्रेम की प्राप्ति भी होकर रहती है। इसमें कोई संशय नहीं, कोई संदेह नहीं। अस्तु हम भी क्यों न याचना नहीं, बल्कि उपासना करें। ❑

---

**नवयुग की चेतना घर-घर पहुँचाने और जन-जन को जाग्रति का संदेश सुनाने का ठीक यही समय है। इन दिनों हमारी भूमिका युगदूतों जैसी होनी चाहिए। इन दिनों हमारे प्रयास समुद्र पर सेतु बाँधने वाले नल-नील जैसे होने चाहिए। खाई कूदने वाले अंगद की तरह, पर्वत उठाने वाले हनुमान की तरह यदि पुरुषार्थ न जगे तो भी गिद्ध-गिलहरी की तरह अपने तुच्छ को महान के सम्मुख समर्पित करना तो संभव हो ही सकता है। गोवर्धन उठाते समय यदि हमारी लाठी भी सहयोग के लिए न उठी तो भी स्त्रष्टा का प्रयोजन पूर्णता तक रुकेगा नहीं। पश्चात्ताप का घाटा हमें ही सहना पड़ेगा। साहसिक शूरवीरों की तरह अब नवयुग के अवतरण में अपनी भागीरथी भूमिका आवश्यक हो गई है। इसके बिना तपती भूमि और जलती आत्माओं को तृप्ति देने वाली गंगा को स्वर्ग से धरती पर उतरने के लिए सहमत न किया जा सकेगा।**

***—परमपूज्य गुरुदेव***
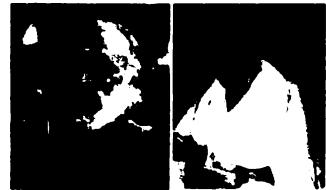
# साधना स्वर्ण जयंती

**विगत अंक में आपने पढ़ा कि वसंत पंचमी के पावन अवसर पर पूज्य गुरुदेव ने स्वर्ण जयंती वर्ष की विशेष साधना में सहभागिता से वंचित रह गए सुपात्र साधकों के मन की उलझनों का समुचित समाधान करते हुए उन्हें आश्वस्त किया कि कुछ ही समय पश्चात नए साधकों को प्रवेश मिल सकने की संभावना बनेगी, अत: परिजन स्थानीय स्तर पर अपनी अलग-अलग भूमिकाओं को कुशलतापूर्ण ढंग से निबाहने की तैयारी में संलग्न हों। उन्हीं दिनों धर्मसंघ के प्रमुख व विभूतिवान संत करपात्री जी द्वारा पूज्यवर निर्दिष्ट स्वर्ण जयंती साधना के स्वरूप को शास्त्र की दृष्टि से अमर्यादित ठहराया गया, किंतु समय बीतने के साथ ही स्वयं उन्हें इसमें ईश्वरीय योजना की झलक दिखी और उन्होंने पूज्य गुरुदेव को पत्र के माध्यम से शुभकामनाएँ प्रेषित कीं। आइए पढ़ते हैं, इससे आगे का विवरण ...**

इस संबंध में 1956 की एक घटना प्रसिद्ध है, जिसमें विनोबा भावे की प्रेरणा से काशी विश्वनाथ मंदिर में हरिजनों ने प्रवेश किया और करपात्री जी ने इसकी आलोचना की। उन्होंने शास्त्रीय और आध्यात्मिक आधार पर इसे वर्जित करार दिया। यही नहीं, भविष्य में कभी उस काशी विश्वनाथ मंदिर में प्रवेश नहीं करने का संकल्प भी ले लिया। काशी विश्वनाथ की आराधना के लिए उन्होंने धर्मसंघ परिसर में एक नया मंदिर बनवाया और उसे विश्वनाथ मंदिर का नाम दिया। समाज सुधार और मंदिरों में सभी के प्रवेश को सही ठहराने की दृष्टि से करपात्री जी की यह पहल सही नहीं थी।

जे0 कृष्णमूर्ति ने 'दि इलेस्ट्रेटेड वीकली' को दिए साक्षात्कार में उन्हें अपने समय का विशिष्ट धर्माधिकारी बताया था। उन्होंने मंदिर बनाने की आवश्यकता से इनकार किया था, लेकिन जबरदस्ती मंदिर प्रवेश को व्यर्थ बताते हुए करपात्री जी के दृष्टिकोण का पक्ष लिया। जे0 कृष्णमूर्ति की शैली में वर्षों बाद ओशो ने भी मंदिर विज्ञान पर चर्चा करते हुए एक प्रवचन में करपात्री जी के पक्ष को अध्यात्म विज्ञान की दृष्टि से सही माना था।

इन तथ्यों का उल्लेख धर्म परंपरा में करपात्री जी की आधिकारिक मान्यता के संदर्भ में किया जा रहा है। गुरुदेव ने उनके पत्र का उल्लेख वर्षों बाद किया। इस बारे में उन्होंने माताजी से सिर्फ इतना ही कहा कि करपात्री जी का समाधान हो गया है। वे साकार उपासना, पूजा और प्रार्थना समन्वित गायत्री-उपासना या ब्रह्मसंध्या अथवा गायत्री योग के अभिनव विधान को शास्त्रसम्मत मानने लगे हैं। बिना किसी चर्चा, विमर्श और तर्क-वितर्क के उन्होंने गायत्री योग को कैसे मान्यता दे दी? जिन संत ने समाज सुधार की भावना से चलाए गए मंदिर प्रवेश अभियान को शास्त्र विरुद्ध बताया था, उन्होंने पाँच-सात मिनट में ही संपन्न हो जाने वाली ब्रह्मसंध्या को ज्यों-का-त्यों कैसे स्वीकार कर लिया? इस विषय में न गुरुदेव ने कुछ कहा और न ही किसी ने पूछने की जरूरत समझी।

## शास्त्रसम्मत गायत्री योग

करपात्री जी द्वारा गायत्री योग को शास्त्रसम्मत मान लेने का रहस्य भागवत के प्रसिद्ध विद्वान कथावाचक डोंगरे जी महाराज ने किया था। किसी प्रसंग में चर्चा चलने पर उन्हें स्वयं करपात्री जी ने बताया था। डोंगरे जी ने कहा कि करपात्री जी से गायत्री योग के संबंध में पूछा तो उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास का प्रसंग सुनाया। कहा कि गोस्वामी जी की रची रामायण रामचरितमानस को उस समय के पंडितों, विद्वानों ने और धर्माचार्यों ने अमान्य कर दिया था।

विद्वानों ने मानस की परीक्षा का एक उपाय निकाला। उस उपाय में मानस की हस्तलिखित प्रतिलिपि काशी विश्वनाथ मंदिर में रख दी गई। उस प्रति पर अन्यान्य धर्मग्रंथ रख दिए

गए और मंदिर के द्वार रात्रि में यथासमय बंद कर दिए गए। तय किया कि सुबह मानस की स्थिति और स्वरूप को भगवान विश्वनाथ प्रमाणित करेंगे। भाव यह था कि ग्रंथ से काशी विश्वनाथ का विग्रह क्या व्यवहार करता है ?

सुबह हुई। उन सभी विद्वानों की उपस्थिति में मंदिर के पट खोले गए। सबने देखा रामचरितमानस की प्रति सब ग्रंथों से ऊपर रखी है। उस पर भगवान शंकर की मुद्रा अंकित है और लिखा है—सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं। उपनिषद् के इस वाक्य के आगे 'ब्रह्म' शब्द नहीं लिखा था। करपात्री जी ने डोंगरे महाराज से कहा कि गायत्री योग के संबंध में भी उन्होंने इसी तरह का प्रयोग किया था।

आचार्य जी (गुरुदेव) ने स्वर्ण जयंती साधना या गायत्री योग का जो विधान भेजा था, उसे भूतभावन भगवान काशी विश्वनाथ के सामने रख दिया गया। यह शिवरात्रि के बाद वाला दिन था। उस प्रति के साथ अन्य संध्या विधियाँ भी थीं और सुबह मंदिर के पट खोले गए तो आचार्य जी की प्रवर्तित गायत्री योग की प्रति सबसे ऊपर थी। उस प्रति पर 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म' का पूरा वाक्य लिखा था और नीचे काशी विश्वनाथ की मुहर थी।

सन् 1974 के कुंभ पर्व में मार्च-अप्रैल के महीनों में करपात्री जी हरिद्वार आए थे। डोंगरे महाराज के सुनाए प्रसंग का जिक्र करते हुए एक राष्ट्रीय दैनिक के संवाददाता ने उनसे पूछा—''और लोग तो रामचरितमानस पर भगवान शंकर द्वारा 'सत्यं शिवं सुंदरम्' लिखे होने की बात कहते हैं।'' डोंगरे महाराज ने उनसे पूछा—''आप 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म' लिखा गया मानते हैं। सही क्या है ?''

करपात्री जी ने कहा—''सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म ही सही है। दूसरा पद तो प्रार्थनासमाज के केशवचंद्र सेन द्वारा यूनानी शब्दों का किया अनुवाद है। वे शब्द यूनानी दार्शनिक सुकरात कहा करते थे।'' कहकर करपात्री जी रुक गए थे। संवाददाता ने पूछा—''सुकरात ने जो कहा, वह भी आध्यात्मिक ही है। भगवान को उसे लेने या नहीं लेने से क्या परहेज। वे सत्यं शिवं सुंदरम् भी तो लिख सकते हैं।''

पूछने पर करपात्री जी ने तपाक से कहा—''नहीं लिख सकते। मानस की वह प्रति मैंने भी देखी है और एक बार यह प्रयोग मैंने भी किया है। उस समय भी उपनिषद् वाक्य ही अंकित था। यही नहीं, मान्यता के अनुसार जो सत्य है, वह कल्याणमय भी है और सुंदर भी है। सत्य में ये विशेषताएँ स्वयमेव निहित हैं। इसलिए उसके साथ कल्याण और सुंदरतावाची शब्द लगाना आवश्यक नहीं हैं।'' करपात्री जी के इस सूक्ष्म विवेचन से सहमत हुआ जाए या नहीं, यह अलग बात है, लेकिन उन्होंने अपने प्रयोग में प्रयोज्य विधेय का उल्लेख नहीं किया था। अँगरेजी के सुनाए प्रसंग का जिक्र आया तो उन्होंने युवकों से हामी भरते हुए कहा कि पुरानों के स्थान पर नए विधान सहज-स्वाभाविक ढंग से आने चाहिए।

स्वर्ण जयंती साधना जो भविष्य में गायत्री योग के रूप में स्थापित प्रचलित होनी थी, को समकालीन साधु-संतों ने आसानी से मान्यता नहीं दी। वेदांत का प्रचार और शिक्षण कर रहे स्वामी चिन्मयानंद 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों का मर्म समझाते हुए विश्वभर में यात्राएँ कर रहे थे। वे भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र को आधार बनाकर भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति की युगानुरूप विवेचना करते थे।

हिंदू धर्म का परिचय नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा भी था कि प्रत्येक भारतीय धर्मानुयायी को कम- से-कम दोनों समय संध्यावंदन और गायत्री का जप करना चाहिए। लेकिन संध्या-विधि के संबंध में वे मौन थे। साधना स्वर्ण जयंती वर्ष में गायत्री परिवार की मंडलियों ने उन्हें गायत्री योग के बारे में बताया और सत्संग प्रवचनों में पूछा कि क्या यही साधना की युगानुकूल विधि है। इस पर पहली बार तो वे चुप रह गए। दोबारा-तिबारा पूछने पर उन्होंने कहा कि सभी विधियाँ एक ही मार्ग की ओर ले जाती हैं, इसलिए किसी एक पर जोर नहीं देना चाहिए। उन्हीं साधक ने फिर पूछा—''गुरुदेव! क्षेत्रों में लोग हमसे इस बारे में पूछने लगते हैं। कहते हैं कि वेद-वेदांग के प्रत्येक अनुयायी के लिए संध्या गायत्री की उपासना अनिवार्य है तो हमें कौन-सी विधि अपनानी चाहिए।''

स्वामी चिन्मयानंद ने गायत्री परिवार के साधकों को उस समय तो स्पष्ट कुछ नहीं कहा, लेकिन स्वामी विद्यानंद विदेह ने उनसे स्पष्ट पूछ लिया। चारों वेदों के भाष्यकर्त्ता और संस्कृत शिक्षण की अभिनव पद्धति के अन्वेषक स्वामी विद्यानंद विदेह अजमेर (राजस्थान) में वेद संस्थान का वैदिक साहित्य और आर्यसमाज की विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। स्वामी विदेह ने 1977 में दिल्ली आए स्वामी चिन्मयानंद से उन्होंने पूछ लिया कि स्वामी जी आपका स्थगित निर्धारण अब भी किया जा सका है या नहीं। स्वामी जी ने यह बात अनायास ही पूछ ली थी। इसके बाद स्वामी चिन्मयानंद ने कहा था कि हमने तो पिछले वर्ष

गीता जयंती पर ही 'ब्रह्मसंध्या' के पक्ष में अपनी सम्मति व्यक्त कर दी थी।

हमारे गुरु तपोवन महाराज की अनुमति से अपने सनातनधर्मियों से अनुरोध किया था कि जो लोग पारंपरिक विधान अपनाने में कठिनाई अनुभव कर रहे हैं, वे इस ब्रह्मसंध्या को अपनाएँ। मध्यकाल में स्वामी रामानुजाचार्य ने जिस तरह अत्यंत गोपनीय बताए जा रहे तारक मंत्र को सबके लिए उद्घाटित कर दिया था। उन्हीं रामानुज ने इस युग में जैसे श्रीराम बनकर गायत्री मंत्र का उत्कीलन कर दिया है। शास्त्रीय भाषा में उस पर लगे प्रतिबंध और उत्कीलन हटा दिए हैं।

स्वामी विद्यानंद ने इस घटना का उल्लेख बाद में साधु-संतों का उपहास करने के लिए किया था, लेकिन गुरुदेव के प्रति इस प्रयोग के लिए आभार ही जताया था। कहा था कि सनातन धर्म का स्वरूप मृतप्राय हो गया है और आर्यसमाज अपनी प्रासंगिकता खोता जा रहा है। इस संक्रमणकाल में गुरुदेव ने 'ब्रह्मसंध्या' अथवा 'गायत्री योग' के माध्यम से सर्वजनीन भारतीय उपासना-विधि का नया उन्मेष किया है।

1976-77 में छपे समाचारों और आलेखों में ब्रह्मसंध्या, गायत्री योग या साधना स्वर्ण जयंती को वर्ष की महत्त्वपूर्ण घटना बताया गया। इस विधान का विरोध करते हुए लोग भी सामने आए थे तो दबे और मुखर स्वरों में आलोचना करने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। साल भर बीतते न बीतते विरोध शांत हो गया। साधना स्वर्ण जयंती का समापन होने पर विश्व अध्यात्म परिषद् नामक मंच ने भारत के दस महानगरों, अट्ठाईस नगरों तथा करीब डेढ़ हजार कसबों का सर्वे किया।

सर्वे का उद्देश्य यह जानना था कि सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में चल रहे आध्यात्मिक प्रयोगों में किसकी क्या स्थिति थी। ऐसे प्रयोगों की संख्या उन्नीस थी। प्रजापति ब्रह्माकुमारी, हरे कृष्ण आंदोलन, स्वाध्याय आंदोलन, संकीर्तन, गीता प्रचार, भावातीत ध्यान और जीवन क्रांति ध्यान आंदोलन जैसे प्रयास भी इस सूची में थे। परिषद् ने जनवरी, 1977 में अपने परिणाम घोषित किए और बताया कि साधना स्वर्ण जयंती अनुष्ठान लोकप्रियता और मान्यता की दृष्टि से सबसे आगे था। साधना स्वर्ण जयंती के सूत्रसंचालक गुरुदेव के जल उपवास ने आंदोलन में प्रखरता भर दी थी। उस बारे में आगे के पन्नों पर चर्चा करेंगे।

(क्रमशः)

**भगवान बुद्ध सरस्वती नदी में विहार कर रहे थे। पास की केवट बस्ती के कुछ मल्लाहों ने स्वर्ण-वर्ण की एक अद्भुत मछली पकड़ी। मल्लाहों ने ऐसी मछली पहले नहीं देखी थी। वे मछली को लेकर राजा के पास गए। राजा को भी कुछ समझ नहीं आया तो वे उसे भगवान बुद्ध के पास ले गए। राजा ने पूछा—"भंते! इस मछली का वर्ण स्वर्ण का कैसे है? और इसके मुख से इतनी दुर्गंध क्यों आ रही है?" बुद्ध ध्यानपूर्वक मछली को देखकर बोले—"यह साधारण मछली नहीं है। यह कश्यप बुद्ध के शासनकाल में कपिल नामक महापंडित भिक्षु था। इसने अपने गुरु को धोखा दिया, उसी पाप के परिणामस्वरूप ऐसा हुआ है।" बुद्ध ने कहा—"अपने विगत जन्म का पाप याद करो।" मछली बोली—"हाँ! मैं ही कपिल हूँ।" उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू भर गए। आगे कोई शब्द नहीं निकला। वह उस क्षण में खो गई, जब उसने गुरु को धोखा दिया था। तभी उसके प्राण निकल गए। पर अब उसमें से दुर्गंध के स्थान पर सुगंध निकल रही थी। पाप का फल इनसान को कभी-न-कभी भुगतना ही पड़ता है।**

# यथार्थ त्याग का मर्म

त्याग अर्थात छोड़ देना। वह जो अपने पास निरर्थक है—उसे हटा, मिटा देना। जब हम अपने पास से निरर्थकता को हटा देते हैं, तभी नयेपन की संभावना की राह खुलती है। इसलिए त्याग को प्रगति का नवचरण कहा गया है। त्याग जीवन की विकासयात्रा का एक अनिवार्य अंग है। यह आत्मशोधन का राजमार्ग है। यह अशुभ के स्थान पर शुभ की प्रतिष्ठा का नियम है। एक को छोड़ने पर ही दूसरे की प्राप्ति संभव होती है। रखा हुआ कदम उठाकर ही पथ पर आगे नवचरण धरा जा सकता है।

पेट में अवशेष तत्त्व का (मल का) त्याग करने पर ही भोजन की इच्छा होती है। शुद्ध वायु को ग्रहण करने के लिए फेफड़ों में स्थित अशुद्ध वायु को छोड़ना पड़ता है। संग्रह करने से, पदार्थों को चिपकाए रहने से तो जीवन गति में विसंगति व विषमता पैदा हो जाती है। जैसे रुकने पर पानी सड़ने लगता है, वैसे ही पेट यदि खाए हुए पदार्थों को अपने अंदर ही संग्रह करता रहे तो अनेकों बीमारियाँ पैदा होकर शरीर में अनेकों विकृतियाँ एवं उपद्रव पैदा होंगे। हृदय रक्त की वितरण-व्यवस्था में संग्रह बुद्धि से काम ले तो शरीर की चेतनता ही नष्ट हो जाएगी।

त्याग बिना विकास, प्रगति, सक्रियता एवं उन्नति का पथ प्रशस्त नहीं होता। जब तक हम किन्हीं पदार्थों, परिस्थितियों, यहाँ तक कि विचारों, भावनाओं में बँधे पड़े रहते हैं, तब तक अन्य विषयों की ओर ध्यान नहीं जाता। इसलिए किसी वस्तु या विषय विशेष से बँधना, उसमें लिप्त रहना सर्वथा त्याज्य है। जो कुछ हमारे पास है, हम जो कुछ भी जानते हैं, उसे हम अपनी उन्नति का आधार बना सकते हैं। जिस सीढ़ी पर हम खड़े हैं, उसका सहारा लेकर ऊपर उठ सकते हैं, लेकिन अंतत: सीढ़ी हमें छोड़नी ही पड़ेगी। यह असंभव है कि हम उस पर खड़े भी रहें और ऊपर भी पहुँच जाएँ।

जीवन का आयाम व्यापक है। जीवन की पगडंडी बड़ी लंबी है। संसार का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। आगे बढ़ने के लिए, प्राप्त करने के लिए हमें नित्य त्याग करना पड़ेगा ही। यहाँ कोई भी तो ऐसा धाम नहीं है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि बस, हमारी यात्रा पूरी हो गई, अब यहाँ से हटना नहीं पड़ेगा। जब तक जीवन है, संसार है, तब तक हमें छोड़ना पड़ेगा, त्याग करते रहना होगा। परिवर्तन ही संसार का नियम है।

इसलिए त्याग कीजिए 'मैं' और 'मेरेपन' का, ताकि हम 'परमसत्ता' की अनुभूति कर सकें। जब तक 'मैं' है, तब तक हम परमात्मा की विराट सत्ता की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सकेंगे। 'मेरेपन' के कारण वस्तुओं, पदार्थों, विषयों की सीमा से बाहर नहीं निकल सकेंगे। ऐसी स्थिति में हम विश्वचक्र की गति के साथ तारतम्य स्थापित नहीं कर पाएँगे।

सारा संसार ही त्याग धर्म पर चल रहा है, अत: संग्रह और रोके रखने की वृत्ति हमारे जीवन में संघर्ष पैदा कर देगी। यहाँ का धर्म है कि जीवन को गति देने के लिए कुछ-न-कुछ त्याग करते रहा जाए। यदि हम चाहेंगे कि 'मैं नहीं दूँगा', 'मैं नहीं छोड़ूँगा' ऐसी स्थिति में प्रकृति के विरोध का सामना करना पड़ेगा और तब हमको विवश होकर छोड़ना पड़ेगा, एक पराजित योद्धा की तरह। फिर क्यों न स्वेच्छा से त्याग करके विश्वक्रम में सहयोग किया जाए। इससे दो लाभ होंगे—एक स्वधर्मपालन करने का संतोष मिलेगा तो दूसरे हमारा जीवन एकाकी, संकीर्ण न रहकर व्यापक हो जाएगा। हमारा जीवन विकसित होगा।

चूँकि त्याग एक को हटाकर दूसरे की प्रतिष्ठा का अवसर देता है, इसलिए मन, कर्म, वचन से अशुभ का भी त्याग करना चाहिए। जिस तरह द्वार के किवाड़ों को खोलते ही सूर्य का प्रकाश सहज ही भवन को प्रकाशित कर देता है, उसी तरह जीवन से अशुद्ध तत्त्वों को निकाल देने पर शुभ का आगमन स्वत: हो जाता है, बुराइयों के छूटते ही अच्छाइयाँ स्वत: पैदा हो जाती हैं। क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, ममता, लोभ आदि बुराइयों के छूटने पर दया, प्रेम, करुणा, श्रद्धा, तितिक्षा, शम, दम आदि सत् तत्त्वों का उदय होने लगता है।

विषय-वासना जीवन की विकृति है। यह त्याज्य है। विषय-वासना और उससे प्रेरित भोगों का त्याग करना आवश्यक है, क्योंकि इनके रहते हुए जीवन में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा संभव नहीं होती। मनुष्य की शक्तियाँ न्यून एवं क्षीण हो जाती हैं। इनमें लिप्त रहने से, आध्यात्मिक एवं भौतिक— किसी भी क्षेत्र में ऐसी सफलता नहीं मिलती, जिससे संतोष मिल सके। विषय-भोगों का चिंतन जीवन में कई तरह की विषमताएँ पैदा कर देता है। गीता का मंत्र है—

**ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।**
**संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥**

अर्थात 'विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति पैदा हो जाती है। विषयों की आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना यदि पूर्ण न हो तो क्रोध की उत्पत्ति होती है।'

इस तरह विषयों के चिंतन मात्र से ही अनेकानेक मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और मनुष्य अपने श्रेय पथ से विचलित हो जाता है। लिप्सा चाहे विषय-भोगों की हो या धन-दौलत की या पद-प्रतिष्ठा की, उसे मानसिक और व्यावहारिक क्षेत्र से सर्वथा दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। मन में रहने वाली उस इच्छा एवं रुचि तक का भी त्याग करना चाहिए, जिससे विषय-भोगों की तृष्णा बढ़े, जिससे लोभ, मोह, अभिमान आदि को पोषण मिलता हो।

स्वाद में आसक्ति भी ठीक नहीं है। ऐसे भोजन का त्याग करना चाहिए, जिससे स्वाद में आसक्ति बढ़ती हो, जिससे आलस्य-प्रमाद बढ़ता हो, जो तामसी, बासी, गंदा और किसी का जूठा हो एवं जो अनीतिपूर्वक कमाई से प्राप्त हुआ हो। शुद्ध, सात्त्विक, ताजा, हलका, पौष्टिक और पसीने की कमाई से प्राप्त हुआ भोजन ही शरीर को स्वस्थ एवं पुष्ट रखता है।

जीवन में वाणी का संयम भी आवश्यक है। वाणी से असत्य वचन, चापलूसी, परनिंदा, कटु भाषण, व्यर्थ वार्त्तालाप का त्याग करना चाहिए; क्योंकि ये अशुभ और अमंगलकारी हैं। इनसे जीवन में कलह, पश्चात्ताप, लड़ाई-झगड़े, अशांति पैदा हो सकते हैं। परस्पर के संबंध खराब हो जाते हैं। साथ ही हमें अवांछनीय प्रसंगों से भी दूर रहना चाहिए। उन सभी दृश्यों तथा प्रसंगों से दूर रहना चाहिए, जिनसे दूषित मनोभावों, वासनाओं को पोषण मिलता हो।

मनुष्य जो कुछ भी देखता है, उसकी प्रतिक्रिया मन पर होती है, वह प्रबल हो उठता है और मनुष्य को वैसा ही करने की प्रेरणा देता है। किसी भी स्थिति में बुरे काम करना, बुरा सोचना और बुरा चाहना त्याज्य है। इतना ही नहीं, बुरा देखने और सुनने से भी दूर रहना चाहिए।

इस तरह जीवन के सभी क्षेत्रों से अशुभ का त्याग करना चाहिए, जिससे शुभ का उदय हो। कई बार हम लोग उत्तेजनाजन्य मनोभावों में गलत चीजों को त्यागने लगते हैं। साधन-वस्तु अथवा अपनी जिम्मेदारी और कर्त्तव्यों का त्याग करते हैं। कोई परिवार छोड़ देते हैं, तो कोई वस्त्र या वस्तु विशेष का त्याग करते हैं। लेकिन इनसे तो त्याग की आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, न उसकी परिभाषा सार्थक होती है।

ध्यान देने वाली बात है कि त्याग का मूलाधार मनुष्य की मनःस्थिति है। इच्छा और कामनाओं का त्याग, अहंकार, स्पृहा, मोह, मनोभावों का त्याग ही सच्चा त्याग है। जब तक मनुष्य इन दूषित मनोभावों का त्याग नहीं करता, तब तक उसे शांति और संतोष की प्राप्ति नहीं होती, चाहे वह बाहरी त्याग के कितने ही प्रयत्न क्यों न करता रहे।

गीताकार ने इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥**

'सभी कामनाओं को छोड़कर, सब ओर से निस्पृह, ममतारहित, अहंकार का त्याग करने वाला शांति को प्राप्त करता है।'

हम संपत्ति का त्याग करते हैं, किंतु मन में स्थित लोभवृत्ति को नहीं छोड़ते। घर-परिवार का त्याग करते हैं, किंतु ममता, मोह का त्याग नहीं करते। स्थान, पद, अधिकार छोड़ देते हैं, किंतु अहंकार नहीं छोड़ते। इसी कारण हम सदैव अशांत और अस्थिर बने रहते हैं। त्याग यदि सच्चे मन से किया जाए तो उससे शांति, संतोष की प्राप्ति होती है, किंतु हम आवेश में आकर या दिखावे के लिए बाहरी त्याग करते हैं। इनको छोड़े बिना कहीं भी एकांत, वन, गिरि-गुफाओं में ही क्यों न रहा जाए, शांति एवं आत्मसुख नहीं मिलता।

इस तरह अपनी दूषित कामनाओं, अवांछनीय इच्छाओं, कलुषित वासनाओं तथा दूषित मनोभावों का त्याग न करके

जो प्रवृत्तियों का बलात् त्याग करता है, गीताकार ने उसे अहंकारी कहा है। ऐसे व्यक्ति अपने आदर्श एवं लक्ष्य से जल्दी ही विचलित हो जाते हैं। जिन्होंने शरीर-क्रिया का त्याग किया और जो मन से विषयों का चिंतन करते हैं, ऐसे लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। योगभ्रष्ट होने वाले साधक इसी श्रेणी में आते हैं। अत: हमें त्याग के समुचित मर्म को समझना चाहिए और मन से त्याग की वृत्ति अपनानी चाहिए। जिस प्रकार शारीरिक अपविष्ट पदार्थों को त्याग करने से स्वास्थ्य लाभ होता है, उसी प्रकार मानसिक विकारों को त्यागने से मन शांत एवं भाव स्थिर होता है। अत: त्याग ही जीवन को प्राप्ति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है। त्याग से ही जीवन में गति, प्रगति एवं विकास के द्वार खुलते हैं। ऐसा त्याग ही श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर है। ❑

---

**राजकुमार नीरव के लिए महर्षि ऐलुष ने आश्रम में रहने का सामान्य प्रबंध कर दिया। उस दिन पहली बार उन्होंने सादा भोजन किया। आश्रम की जीवनपद्धति बहुत कष्टपूर्ण थी। इतना रूखा जीवन उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था, इसलिए अरुचि होना कुछ स्वाभाविक ही था। सोने के लिए जाने से पहले एक अन्य स्नातक से राजकुमार ने पूछा—"आप कहाँ से आए हैं? आश्रम में आपको कितने दिन हो गए?" स्नातक ने उत्तर दिया—"मित्र! मैं उपकौशल का राजकुमार हूँ और यह मेरा समापन वर्ष है।" इसके आगे बात न हो सकी।**

**राजकुमार नीरव ने फिर विश्राम किया। सूर्योदय से दो घड़ी पहले जब स्नातक जागे, प्रार्थना हुई, तो नीरव की भी नींद टूटी। आश्रम का नियम था कि सभी स्नातक भिक्षाटन के लिए जाते थे। नियम के बारे में जानकर नीरव का अहं भाव जाग पड़ा था। राजकुमार और भिक्षा माँगे। उनके अंत:करण ने प्रतिवाद किया, किंतु वह भिक्षापात्र लिए एक गाँव में गए। किसी के दरवाजे पर जाते उसे लज्जा हो रही थी।**

**गाँव के प्रमुख की कन्या विद्या ने उस संकोच को पहचान लिया। उसने एक मुट्ठी धान्य लिया और नीरव के समीप ले जाकर भिक्षापात्र में डालने के बजाय जमीन पर गिरा दिया। हतप्रभ नीरव ने नैराश्य शब्दों में विद्या से पूछा—"देवी! यदि अन्न फेंकना ही था तो आप उसे यहाँ तक लाई ही क्यों?" विद्या ने कहा—"तात्! मैं ही क्या, सारा संसार ही ऐसा किया करता है। हम जिस उद्देश्य से दुनिया में आते हैं, उसे पूरा नहीं करते, तो यह धान्य बाहर गिराने जैसा ही अपराध हुआ या नहीं?" विद्या के उदाहरण ने नीरव की आँखें खोल दीं और अगले ही क्षण वह आत्मपरिष्कार की साधना हेतु संलग्न हो गया।**

---

# आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का आत्मसंतोष पर प्रभाव
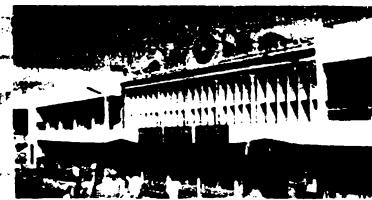
व्यक्ति के जीवन में उसकी सफलता के साथ-साथ सामंजस्य, संतुष्टि और सार्थकता का मानदंड जुड़ा होता है। किसी भी लक्ष्य को पूरा करने मात्र से सफलता को परिभाषित नहीं किया जा सकता है। सफलता का वास्तविक सार तो यही है कि जिस उद्देश्य अथवा लक्ष्य को पूरा किया गया है, उसके पीछे की प्रेरणा क्या रही, आंतरिक रूप से सार्थकता और संतुष्टि की भावना को प्राप्त किया गया अथवा नहीं?

यदि नहीं तो फिर ऐसी सफलता एकांगी रह जाती है और व्यक्ति में विक्षोभ, आत्मग्लानि, कुंठा, अशांति जैसी अनेकों आंतरिक दुर्बलताओं के रूप में कष्टदायी बन जाती है। जीवन को ऐसी दुर्भाग्यशाली परिणति से बचाने के लिए आवश्यक है कि प्रारंभ से ही सजगता अपनाई जाए एवं व्यक्तित्व में उन विशेषताओं को उत्पन्न किया जाए, जिनसे किए जाने वाले कार्यों के प्रति रुचि, प्रेरणा आदि बनी रहे और कार्यक्षेत्र के हर स्तर पर सामंजस्य स्थापित हो सके।

वर्तमान समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग विभिन्न दफ्तरों, संस्थानों, निकायों में कार्य करता है। नौकरीपेशा के कार्य में संलग्न इस वर्ग की वैसे तो अनेक चुनौतियाँ और समस्याएँ हैं, परंतु असंतुष्टि और असमायोजन जैसी स्थितियाँ ज्यादा प्रभावित करती हैं। ऐसी समस्याओं से बचने या उबरने के उपाय बाह्य परिस्थितियों से ज्यादा व्यक्ति की आंतरिक विशेषताओं एवं गुणों पर निर्भर करते हैं।

व्यक्तित्व की इन आंतरिक विशेषताओं को मनोवैज्ञानिक भाषा में आध्यात्मिक पूँजी के रूप में दरसाया गया है। इसके अंतर्गत व्यक्ति की सजगता, दृष्टिकोण, मूल्य, अनुभूति क्षमता, संवादितता, स्वनिर्भरता, सकारात्मक प्रतिक्रियाएँ जैसे बहुमुल्य गुणों को सम्मिलित किया गया है। इन गुणों के आधार पर व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में उसकी सफलता के साथ-साथ संतुष्टि, सामंजस्य, प्रेरणाशक्ति जैसी क्षमताओं का आकलन कर पाना संभव है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय पहल करते हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय में योग विज्ञान विभाग के अंतर्गत एक महत्त्वपूर्ण शोधकार्य संपन्न कराया गया है। व्यक्ति के जीवन में अंतर्निहित कार्यों की जानकारी से युक्त यह शोधकार्य मुख्य रूप से व्यावसायिक एवं स्वायत्त संस्थानों में कार्य करने वाले लोगों से संबंधित है, लेकिन इसके साथ ही यह अन्य कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले लोगों, कर्मचारियों के लिए भी अत्यंत उपादेयी है।

सन् 2016 में विश्वविद्यालय की शोधार्थी शोभा पांडे द्वारा संपन्न यह शोधकार्य विश्वविद्यालय के श्रद्धेय कुलाधिपति डॉ0 प्रणव पण्ड्या जी के विशेष संरक्षण एवं प्रतिकुलपति जी के निर्देशन में पूरा किया गया है। इस अध्ययन का विषय है—***'इम्पैक्ट ऑफ स्पिरिचुअल कैपिटल ऑन लाइफ सैटिसफैक्शन, वर्क एडजस्टमेंट एंड वर्क मोटिवेशन अमंग एंप्लाईज—एन एक्सप्लोरेटरी स्टडी।'***

वैज्ञानिक अध्ययन विधि से संपन्न किए गए इस प्रायोगिक एवं विवेचनात्मक विधि पर आधृत शोधकार्य के लिए शोधार्थी द्वारा हरिद्वार (उत्तराखंड) एवं पटना (बिहार) से कोटा परीक्षण विधि द्वारा कुल 240 कर्मचारियों का चयन किया गया। ये सभी उक्त स्थानों की निजी कंपनियों के नियमित कर्मचारी थे एवं सभी की न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता 12th व उम्र 25 से 40 वर्ष के मध्य थी।

अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्यों एवं जानकारियों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग के अंतर्गत जिन शोध उपकरणों को प्रयुक्त किया गया है, वे हैं—(1) शोधार्थी द्वारा शोध निर्देशक के मार्गदर्शन में निर्मित किया गया स्पीरिचुअल कैपिटल स्केल, (2) डॉ० क्यू० जी० आलम एवं डॉ० राम जी श्रीवास्तव (2001) द्वारा निर्मित लाइफ सैटिसफैक्शन स्केल, (3) ओ० पी० मिश्रा एवं एस० के० श्रीवास्तव (1992) द्वारा निर्मित वर्क एडजस्टमेंट इन्वेन्ट्री एवं (4) के० जी० अग्रवाल द्वारा निर्मित वर्क मोटिवेशन क्वेश्चनायर (WMQ-A)।

शोधार्थी ने इस अध्ययन की प्रयोग-प्रक्रिया में सर्वप्रथम हरिद्वार और पटना के अलग-अलग निजी संस्थानों के लगभग आठ सौ कर्मचारियों से स्पीरिचुअल कैपिटल स्केल

के माध्यम से तथ्यात्मक जानकारी एकत्रित की एवं उनमें से 120 स्पीरिचुअल कैपिटल व समान संख्या में स्पीरिचुअल कैपिटलरहित लोगों का चयन कर दोनों समूहों में समान रूप से पुरुष एवं महिलाओं को वर्गीकृत किया।

इसके पश्चात प्रयोग में सम्मिलित सभी 240 चयनित कर्मचारियों से लाइफ सैटिसफैक्शन स्केल, वर्क एडजस्टमेंट इन्वेन्ट्री एवं वर्क मोटिवेशन क्वेश्चनायर के माध्यम से जानकारी एकत्रित की गई। शोध उपकरणों के द्वारा प्राप्त किए गए तथ्यों एवं आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण करने पर शोध परिणाम के रूप में यह पाया गया कि स्पीरिचुअल कैपिटल वाले कर्मचारियों में बिना स्पीरिचुअल कैपिटल वाले कर्मचारियों की तुलना में जीवन संतुष्टि, कार्य सामंजस्य व कार्य-अभिप्रेरणा का स्तर ज्यादा अच्छा है।

अत: यह कहा जा सकता है कि स्पीरिचुअल कैपिटल के अभाव के कारण व्यक्ति में जीवन में असंतुष्टि की भावना, कार्य के प्रति उदासीनता व असमायोजन की समस्या उत्पन्न हो जाती है, जिसका स्वयं उसके जीवन एवं उसके कार्यक्षेत्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और उसकी लक्ष्यपूर्ति अथवा सफलता संदिग्ध बनी रहती है।

शोध अध्ययन के निष्कर्ष का अत्यंत सकारात्मक पहलू यह है कि इसके परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्पीरिचुअल कैपिटल वाले लोगों में जीवन संतुष्टि का भाव होता है, वे कार्यस्थल पर बेहतर समायोजन क्षमता का परिचय देते हैं और अपनी जिम्मेदारियों के कार्यों को अथवा उद्देश्यों को रुचिपूर्वक संपन्न करने तथा सदैव बेहतर करने की स्वप्रेरणा से युक्त होते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोगों का जीवन सफलता को सुनिश्चित करता ही है, साथ ही जीवन संतुष्टि और सार्थकता की भावना को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है।

इस विशिष्ट शोध अध्ययन के परिणामों में जो महत्त्वपूर्ण, सकारात्मक व सार्थक निष्कर्ष प्राप्त हुआ है, इसके पीछे का प्रमुख कारण शोधार्थी द्वारा प्रयोग के लिए अपनाई गई स्पीरिचुअल कैपिटल की तकनीक है। इस तकनीक के प्रयोग से व्यक्ति के भीतर की उन विशेषताओं, गुणों का पता लगा पाना संभव होता है, जिनसे उसकी कार्यक्षमता, व्यवहार और सुदृढ़ता का सहज आकलन किया जा सके।

यह तकनीक इसलिए भी प्रभावी और सकारात्मक परिणाम देने वाली है, क्योंकि इसमें सम्मिलित आयामों का संबंध हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व और जीवन से है। व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने, विकसित बनाने और समग्रता, सफलता व संतुष्टि प्राप्त कराने वाली अमूल्य कारक क्षमताओं का स्पीरिचुअल कैपिटल की अवधारणा में समावेश है।

इस तकनीक के प्रयोग हेतु जिन क्षमताओं को सम्मिलित किया गया है वे हैं—(1) सजगता अथवा स्व-जागरण की क्षमता, (2) जीवन-दृष्टि एवं मूल्यों का नेतृत्व, (3) समग्रता एवं संयोजन की उच्च भावना, (4) करुणामय संवेदन, (5) विविधता के प्रति उत्साह, (6) स्वतंत्रता की अनुभूति, (7) सार्थक जिज्ञासाएँ एवं प्रश्न, (8) सदैव स्वत: स्फूर्त रहना, (9) प्रतिकूलता का सकारात्मक प्रत्युत्तर, (10) विनम्रता की भावना, (11) उद्यमशीलता की अभिवृत्ति और (12) सकारात्मक प्रतिक्रिया।

उक्त क्षमताएँ व्यक्तित्व की विशेषताओं के रूप में हमारे जीवन की आंतरिक पूँजी का परिचय कराती हैं। ये विशेषताएँ जिस व्यक्ति के जीवन में परिलक्षित होती हैं, उसे आध्यात्मिक पूँजी से युक्त कहा गया है। व्यक्तित्व में समाहित यह आध्यात्मिक पूँजी ही वास्तविकता में व्यक्ति के जीवन को सफलता, सार्थकता और संतुष्टि का अनुदान प्राप्त कराती है।

वर्तमान के युग में सामान्यतया पूँजी से तात्पर्य भौतिक धन, संपदा, लाभ, सामर्थ्य आदि से लिया जाता है, परंतु यह अत्यंत संकुचित अर्थ है। इसके अलावा भी व्यक्ति के जीवन में कई तरह की पूँजी का संबंध है, जैसे—स्वास्थ्य की पूँजी, अवसरों की पूँजी, समाज-संगठन की पूँजी, संस्कारों-आदर्शों की पूँजी, सांस्कृतिक पूँजी, आत्मिक-आध्यात्मिक क्षमताओं की पूँजी आदि।

इनमें आध्यात्मिक पूँजी को ही श्रेष्ठतम और वास्तविक पूँजी माना जा सकता है; क्योंकि इसके अभाव में अन्य सभी प्रकार की पूँजी का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अध्यात्म हमारे समग्र जीवन का पर्याय है। जब तक जीवन में इसका समावेश नहीं होता, तब तक हमारी आंतरिक क्षमताएँ एवं योग्यताएँ प्रकाशित भी नहीं हो पातीं।

ऐसे में जीवन की दशा और दिशा का निर्धारण स्वयं के नियंत्रण में नहीं, वरन भाग्य और परिस्थितियों के वश में चला जाता है। स्वयं का जीवन जब अन्यों के द्वारा अन्य तरह से संचालित किया जाता है तो भीतर कुंठा, आत्मग्लानि,

असंतोष, निराशा, निरर्थकता जैसी समस्याएँ स्वत: जन्म ले लेती हैं। अत: ऐसी समस्याओं से बचने एवं सफल, सार्थक व संतुष्टिपूर्ण जीवन की दशा-दिशा के निर्धारण हेतु आवश्यक है कि हमारे भीतर आध्यात्मिक पूँजी का भंडार हो। यह शोध अध्ययन अपने छोटे से प्रयास में हम सभी के लिए इसी अमूल्य जानकारी को प्रस्तुत करता है और हमें व्यक्तित्व की आध्यात्मिक पूँजी को जानने एवं प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। (शोधग्रंथ प्रकाशनार्थ दिया गया है।) ❑

**भगवान बुद्ध कपिलवस्तु पधारे। धर्मपत्नी यशोधरा का त्याग ही उन्हें इस स्थिति तक पहुँचा पाया था, यह भी उन्हें स्मरण था। वे महल पहुँचे और सस्नेह यशोधरा से पूछा—"यशोधरे! कुशल से तो हो ?" "हाँ स्वामी!" चिरप्रतीक्षित स्वर सुनकर यशोधरा का हृदय गद्‌गद हो उठा। "स्वामी नहीं, भिक्षु कहो यशोधरे! मैं अपना धर्म निभाने आया हूँ। बोलो तुम कुछ भिक्षा दे सकोगी ?" बुद्ध के आदेश व आग्रह को सुन यशोधरा कुछ क्षणों के लिए विचारमग्न हुई व दुःखित होती कहने लगी—"अब बचा ही क्या है देने के लिए ? अपने दांपत्य की स्मृतियों को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है, जो देने योग्य हो।"**

**अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर यशोधरा ने बुद्ध की प्रशांत छवि को निहारा व कुछ क्षण निर्विचार की अवस्था में उसके चेहरे पर निश्चय के भाव उभरे और बोली—"भंते! अपने पूर्व संबंधों को ही दृष्टिगत रखकर क्या आप भी कुछ प्रतिपादन कर सकेंगे ?" "भिक्षु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न होता होगा तो अवश्य करूँगा। आर्ये!" बुद्ध ने आश्वासन दिया। यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को पुकारा और तथागत की ओर उन्मुख होकर बोली—"तो भगवन्! राहुल को भी अपनी पितृ-परंपरा निभाने देकर उसे अपना अधिकार पाने दीजिए।"**

**बुद्ध की मौन स्वीकृति पाकर वह राहुल से बोली—"जाओ पुत्र! अपनी पितृ-परंपरा का अनुकरण करो। बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में जाओ।" माता के आदेश व पिता के समर्थन को देख उत्साहित व आनंदित राहुल के समवेत स्वरों में गूँज उठा—बुद्धं शरणं गच्छामि। यशोधरा एवं सिद्धार्थ की श्रेष्ठ संतति राहुल भी इसी परंपरा में सम्मिलित हो गए, जिसे स्वयं सिद्धार्थ—गौतम बुद्ध ने आरंभ किया था। पति के अभाव में भी अपनी संतति को उच्चतम संस्कार देने का श्रेय यशोधरा ने पाया व गौरवान्वित हुई।**

# जापान के हिंदू देवी-देवता एवं सांस्कृतिक साम्यता

सूर्य के देश जापान में भारतीय धर्म की पताका आज भी फहरा रही है, हालाँकि इस तथ्य को कम ही लोग जानते हैं, यहाँ तक कि स्वयं जापान के लोग भी इससे परिचित नहीं कि वहाँ के 80 प्रतिशत्त देवी-देवता भारतीय मूल के हैं। हालाँकि 80 प्रतिशत शिंतो धर्म प्रधान जापान में भारतीय मूल के मात्र 0.10 प्रतिशत लोग ही रहते हैं अर्थात वहाँ हिंदू अल्पसंख्यक वर्ग में आते हैं, लेकिन हिंदू देवी-देवताओं की वहाँ भरमार है, जिन्होंने जापानी संस्कृति में केंद्रीय भूमिका निभाई है व निभा रहे हैं।

जापान में भाग्य के सात देवी-देवताओं में चार तो हिंदू मूल के हैं, यथा—बैंजाइतेन (सरस्वती), बिशमोन (वैश्रवना या कुवेर), डाइकोकुटेन (महाकाल, शिव) और किचिजोतेन (लक्ष्मी)। जापान में भगवान बुद्ध के बाद सरस्वती सबसे अधिक पूजी जाने वाली देवी हैं। ओसाका में बैंजाइतेन का भव्य मंदिर विश्व का संभवतः सबसे ऊँचा सरस्वती मंदिर है। इसके अतिरिक्त यहाँ सरस्वती को लेकर सैकड़ों मंदिर स्थापित हैं।

इसके भी यहाँ दो रूप विद्यमान हैं—एक अष्टभुज और दूसरा दो भुज, जिसके हाथ में वीणा (जापान में बिवा) रहती है और ये कमल के पुष्प पर विराजमान हैं। इन्हें यहाँ जल की एक पावन शक्ति तथा सौभाग्य की देवी के रूप में जाना जाता है।

भारतीय फोटोग्राफर एवं इतिहासकार बिनॉय बेहल के अनुसार, सरस्वती का नाता पौराणिक नदी सरस्वती से है इसलिए जापान में इनकी पूजा तालाब में की जाती है। इनके अधिकांश मंदिर जापान के द्वीपों और तटीय क्षेत्रों में हैं। ऐसा माना जाता है कि इस देवी को संगीत का ज्ञान है। इस कारण इसे अद्‌भुत ध्वनियों की देवी भी माना जाता है। इस तरह बैंजाइतेन को जल, समय, शब्द, वाणी, वाक्‌पटुता, संगीत और ज्ञान की देवी माना जाता है।

सरस्वती के अतिरिक्त यहाँ इंद्र (ताइशाकुतेन), ब्रह्मा (बोंनतेन), गणेश, विष्णु, गरुड़, यम (एम्मातेन), कामदेव, वरुण (सुइतेन), वायु (फुनजीन) व अन्य दर्जनों देवी-देवताओं के असंख्य मंदिर हैं। जिस वरुण देव को भारत में लोग भुला बैठे हैं, उन्हें जापान में सुइतेन नाम से व्यापक स्तर पर पूजा जाता है। इन्हें सूखे और जलीय चक्रवात से बचाव करने वाली शक्ति माना जाता है। जापान जैसे देश में ऐसे देवता का महत्त्व समझा जा सकता है, जहाँ यदा-कदा बाढ़, भूकंप व जलीय संकटों से देश को जूझना पड़ता है।

विघ्नविनाशक गणेश जी यहाँ शोतेन या कांगितेन नाम से पूजे जाते हैं। अग्नि देव को यहाँ कातेन नाम से पूजा जाता है। काली देवी को डाइकोकुटनेयो कहते हैं, जिनका पुरुष समकक्ष डाइकोकुटेन है। शिव ईषान यहाँ शांत ध्यान मुद्रा में मिलते हैं, वहीं खोपड़ियों की माला, हाथ में त्रिशूल तथा चारों ओर अग्निचक्र के साथ इनका विकराल स्वरूप भी ध्यान आकर्षित करता है। यम को यहाँ इम्मातेन के रूप में पूजा जाता है। अपनी तीखी चोंच के साथ गरुड़ अन्य पूजनीय देवता हैं।

गरुड़ यहाँ करूरा के रूप में पूजित हैं। सूर्य को नितेन पुकारा जाता है और अमेतरासु के रूप में सूर्य देवी को यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण और प्राथमिक कामी (देवी) माना जाता है। मालूम हो कि जापान के शिंतो धर्म में देवी-देवताओं व दिव्य आत्माओं को कामी के नाम से जाना जाता है। जापान के किचीजोजी शहर का नाम लक्ष्मी देवी (किचिजोतेन) के नाम पर रखा गया है। यह शहर जापान की राजधानी टोक्यो से 18 किमी की दूरी पर स्थित है।

चूँकि जापान में हिंदू धर्म का प्रचार बौद्ध धर्म के माध्यम से चीन से होते हुए वहाँ पहुँचा है, अतः यहाँ के देवी-देवताओं से चीनी नाम जुड़ते हैं। भारत में इनके आदि उद्‌भव से जापानी तो दूर, भारतीय लोग भी परिचित नहीं। हालाँकि अब धीरे-धीरे यहाँ के लोग देवी-देवताओं के इस पक्ष से परिचित हो रहे हैं और भारत-जापान के सांस्कृतिक संबंधों की प्रगाढ़ता में नए आयाम जुड़ रहे हैं।

देवी-देवताओं की समानता के अतिरिक्त इस 'लैंड ऑफ हेवन' के नाम से चर्चित जापान देश की संस्कृति में भारतीय दर्शन एवं धर्म की छाप स्पष्ट रूप से खोजी जा सकती है। भाषा एक ऐसा ही पहलू है। पाँचवीं शताब्दी में सिद्धम लिपि तैयार हो गई है, जिसे ब्राह्मी से व्युत्पन्न माना

युगगीता —261

# अधम योनियों में गिरते हैं आसुरी वृत्ति वाले मनुष्य

*(श्रीमद्भगवद्गीता के देवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवें अध्याय की उन्नीसवीं किस्त)*

**[ विगत किस्त में श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक की व्याख्या की गई थी। इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को आसुरी प्रवृत्ति वाले व्यक्तित्वों के विषय में बताते हुए कहते हैं कि ऐसे आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को, उन द्वेष करने वाले, क्रूर स्वभाव वाले और संसार में महानीच, नराधम, अपवित्र मनुष्यों को मैं बार-बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ। इस सूत्र में स्पष्ट है कि भगवान का स्वरूप एक सुधार का भाव रखने वाले शिक्षक या आचार्य की भाँति है, जो हठी और उद्दंड विद्यार्थियों को अनुशासित करने के लिए उन्हीं तरह की योनियों में स्थान देते हैं, ताकि उनके चित्त पर छाए कुसंस्कारों की शुद्धि संभव हो सके एवं वे कर्मभार से मुक्त होकर स्वयं के कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकें।**

**आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के लिए श्रीभगवान एक शब्द प्रयुक्त करते हैं। वे कहते हैं—नराधम! अर्थात मनुष्य रूप में नीचता को प्राप्त हो चुका व्यक्तित्व। ऐसा कहने के पीछे उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य की योनि जीवात्मा को शुभ कर्मों को करने के लिए मिलती है। ऐसे में क्रूर, निर्दयतापूर्ण, हिंसक कर्मों को करके ये मनुष्य अपनी जीवनयात्रा को निकृष्ट बनाने पर तुले हैं तो यह एक प्रकार से नराधम का कार्य हुआ। श्रीभगवान कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों का नाम लेना, उनका दर्शन करना और उनको स्मरण करना—ये भी भयंकर रूप से अपवित्र कर देने वाला है। इसीलिए ऐसे क्रूर, निर्दयी, सबके प्रति अकारण ही बैर रखने वाले व्यक्तियों को भगवान बार-बार आसुरी योनियों में ही जन्म प्रदान करते हैं; क्योंकि वैसी योनियाँ ही उनकी वृत्ति के अनुकूल होती हैं। इसके पीछे कारण यही है कि जैसे एक अध्यापक अनुशासनहीन विद्यार्थियों को अनुशासित इसलिए करता है, ताकि वे सुमार्ग पर आ सकें, वैसे ही भगवान भी ऐसी वृत्तियों वाले मनुष्यों को बारंबार उसी तरह की योनियों में जन्म देते हैं, ताकि वे अपने पापकर्मों को शुद्ध करके स्वयं को निर्मल व शुद्ध बना सकें। ]**

इतना कह चुकने के बाद श्रीभगवान कहते हैं कि

**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।**
**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥**

*॥20॥*

**शब्दविग्रह**—आसुरीम्, योनिम्, आपन्नाः, मूढाः, जन्मनि, जन्मनि, माम्, अप्राप्य, एव, कौन्तेय, ततः, यान्ति, अधमाम्, गतिम्॥

**शब्दार्थ**—हे अर्जुन! ( **कौन्तेय** ), वे मूढ़ ( **मूढाः** ), मुझको ( **माम्** ), न प्राप्त होकर ( **अप्राप्य** ), ही ( **एव** ), जन्म ( **जन्मनि** ), जन्म में ( **जन्मनि** ), आसुरी ( **आसुरीम्** ), योनि को ( **योनिम्** ), प्राप्त होते हैं, (फिर) ( **आपन्नाः** ), उससे भी ( **ततः** ), अति नीच ( **अधमाम्** ), गति को ( **गतिम्** ), प्राप्त होते हैं अर्थात घोर नरकों में पड़ते हैं ( **यान्ति** )।

अर्थात—हे कुंतीनंदन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न होकर के जन्म-जन्मांतरों में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गति में अर्थात भयंकर नरकों में चले जाते हैं। इससे पूर्व के श्लोक में जिस बात को भगवान कृष्ण ने कहा था, अब वे उसी बात को आगे बढ़ाते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जन्म में मुझे प्राप्त करने का दुर्लभ अवसर उनको मिलता है, परंतु वे दुर्भाग्य का शिकार होकर मुझे प्राप्त न होकर पशु-पक्षी आदि आसुरी योनियों में चले जाते हैं और उन्हीं योनियों में उन्हें बार-बार जन्म मिलता रहता है।

यहाँ उनके '**मामप्राप्यैव**' कहने के पीछे का अभिप्राय यही है कि जब उनको मनुष्य की योनि मिली थी तो उसके साथ उनको एक अवसर मिला था कि वे परमात्मा को प्राप्त कर सकें, पर एक तरह से यह उनका दुर्भाग्य ही

है कि वे उस अवसर को गँवा बैठते हैं और पतनोन्मुख हो जाते हैं। इसीलिए भगवान यहाँ पर कहते हैं कि '**ततो यान्त्यधमाम् गतिम्**'—अर्थात आसुरी योनियों में गिरने पर चाहते तो वे बलि, प्रह्लाद, विरोचन की तरह से अपने कर्मों को धोकर उच्च पद को प्राप्त कर सकते थे, पर वे इसके विपरीत—इससे भी ज्यादा अधम लोकों को प्राप्त होते हैं।

पुराणों में पृथ्वी से नीचे अधम लोकों का विवरण आता है। वहाँ कहते हैं कि पृथ्वी के नीचे सात भूविवर हैं या नरक हैं। इनमें से प्रथम का नाम अतल बताया गया है, जिसका निर्माण मय दानव के द्वारा किया गया, ऐसा शास्त्र बताते हैं। इसके नीचे वितल, उसके नीचे सुतल, फिर तलातल, फिर महातल, फिर रसातल और फिर पाताल का वर्णन पुराणों में आता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में नरकों का और भी विस्तृत विवरण मिलता है। कहीं-कहीं पर अट्ठाईस नरकों का वर्णन है तो कहीं पर इक्कीस हैं।

पौराणिक वर्णन के अनुसार अधम लोक के 28 नरकों के नाम—तामिस्र, अंधतामिस्र, दौख, महादौख, कुंभीपाक, कालसूत्र, असिपत्र, शूकरमुख, अंधकूप, कृमिभोज, संदंश, तप्तसूर्मि, वज्रकंटकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेपादन, अवीचि, अय:पान, क्षारकर्दम, रक्षोगण-भोजन, शूलप्रेत, दंदशूल, अवटारोध, पर्यावर्तन और सूचीमुख हैं। इनमें फिर अलग-अलग नरकों में गिरने के कारण और वहाँ मिलने वाली यातनाओं का वर्णन भी मिलता है।

उदाहरण के तौर पर जो दूसरे के धन इत्यादि को चुराता है, उसके सामान का अपहरण करता है, उसे यमदूतों के द्वारा कालपाश में बाँधकर 'तामिस्र' नामक नरक में ले जाने का विवरण श्रीमद्देवीभागवत में आता है। व्यभिचार करने वाले को 'अंधतामिस्र' में गिरना पड़ता है। जो मात्र 'मैं' और 'मेरा' ऐसे विचार को करते हुए जीवन गुजार देता है, वह 'दौख' नामक नरक में गिरता है, जहाँ रूरू नामक भयंकर प्राणियों के द्वारा उसे कष्ट को भोगना पड़ता है। पशु-पक्षी आदि जीवों को अकारण कष्ट देने वाला 'कुंभीपाक' नामक नरक में जाता है, जहाँ उसे खौलते तेल में से गुजरना पड़ता है।

पिता से वैर रखने वाला प्राणी 'कालसूत्र' नामक नरक में गिरता है और पाखंड का आश्रय लेने वाला 'असिपत्र' नरक में जाता है। जो व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए दूसरों के साथ क्रूर कर्म करता है, वह 'शूकरमुख' नामक नरक में जाता है। दूसरों को व्यथित देखते हुए भी जो उनको कष्ट देता है, ऐसे व्यक्ति को 'अंधकूप' नामक नरक में जाना पड़ता है। अपने स्वार्थ पर ही सारा ध्यान केंद्रित रखने वाला 'कृमिभोज' नामक नरक में गिरता है। परिश्रम से अर्जित दूसरों के धन-वस्तुओं पर जबरन आधिपत्य जमाने वाला 'संदंश' नरक में जाता है तो अनैतिक संबंध रखने वाले 'तप्तसूर्मि' नामक नरक में गिरते हैं। जीवनभर व्यभिचारपूर्वक मानसिकता रखने वाला 'शाल्मली' नामक नरक में जाता है।

पुराण कहते हैं कि मर्यादा को भंग करने वाले 'वैतरणी' नामक नरक में गिरते हैं। सदाचार से विमुख होने वाले 'पूयोद' नामक नरक में गिरते हैं। अबोध प्राणियों को अन्यथा कष्ट देने वाले व उनका शिकार करने वाले 'प्राणरोध' नामक नरक में कष्ट पाते हैं तो यज्ञ जैसे पवित्र कर्म में हिंसा करने वालों के लिए, उसमें पशुबलि देने वालों के लिए 'विशसन' नामक नरक सुरक्षित है। कामवासना के वशीभूत होकर कर्म करने वाले 'लालाभक्ष' नरक में जाते हैं। दूसरों को विष देने का कार्य करने वाले, उनकी हत्या करने वाले 'सारमेपादन' नामक नरक में तो दान और धन के लेन-देन में झूठ बोलने वाले 'अवीचि' नामक नरक में गिरते हैं। अभिमानी व्यक्ति जो दूसरों का आदर नहीं करता, वह 'क्षारकर्दम' नामक नरक में गिरता है तथा नरभक्षियों का जीवन जीने वाले 'रक्षोगण-भोजन' नामक नरक में गिरते हैं। विश्वासघाती 'शूलप्रेत' नामक नरक में तो क्रूर, निर्दयी कर्म करने वाले 'दंदशूल' नामक नरक में गिरते हैं। दूसरों को अँधेरे में रखने वाले 'अवटारोध' नामक नरक में तथा दूसरों को क्रोधित, निरंकुश दृष्टि से देखने वाले 'पर्यावर्तन' नामक नरक में तो वहीं सर्वाधिक अधमी 'सूचीमुख' नामक नरक में जाकर गिरते हैं।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि जो आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्य अवसर मिलने पर अपने कर्मों की शुद्धि नहीं करते, वे अत्यंत अधम लोकों को और दुरूह नरकों को प्राप्त होते हैं। (क्रमशः)

# उत्साह एवं उल्लासपूर्ण बुढ़ापे की तैयारी

बुढ़ापा जीवन का एक ऐसा सत्य है, जिससे हर इनसान का वास्ता देर-सवेर पड़ता ही है। यह बात दूसरी है कि जवानी के जोश में इस ओर कोई ध्यान नहीं जाता, न ही कोई इसकी ज्यादा परवाह करता है, लेकिन जीवन के किसी मोड़ पर जब इसके लक्षण उभरना प्रारंभ हो जाते हैं या कष्ट एवं पीड़ा से गुजर रहे बुढ़ापे का सामना होता है, तो अधिकांश लोग मायूस हो जाते हैं। जवानी में फसल बोई थी, उसको काटने का समय आ जाता है, तो कदम ठिठक जाते हैं, लेकिन समय रहते इसकी सही तैयारी की जाए और इसके प्रति सजग हुआ जा सके, तो एक उत्साह एवं उल्लासपूर्ण बुढ़ापे को संभव बनाया जा सकता है।

विश्व के उन क्षेत्रों में जहाँ सबसे अधिक लंबी आयु वाले स्वस्थ एवं निरोगी लोग रहते हैं, उनके दीर्घायुष्य पर शोध-अध्ययन के आधार पर प्रकट हुए निष्कर्ष खासे प्रेरक एवं अनुकरणीय हैं। दीर्घायुष्य का पहला आधार देखा गया—कोई-न-कोई रचनात्मक कार्य करते रहना, स्वयं को व्यस्त रखना और हर परिस्थिति का प्रसन्नतापूर्वक सामना करने के लिए तत्पर रहना। व्यस्त रहने पर व्यक्ति अनावश्यक कुकल्पनाओं व कुचिंतन से बच जाता है, जो अन्यथा सिर पर सवार होकर प्रकारांतर में तनाव एवं रोग का कारण बनती हैं। व्यस्तता के साथ यदि कार्य सृजनात्मक हो तो जीवन का आनंद कई गुना बढ़ जाता है, क्योंकि हर रचनात्मक कार्य के साथ सृजन का आनंद जीवन की गुणवत्ता को बढ़ा देता है और एक मस्तीभरा जीवन संभव हो पाता है।

दीर्घायुष्य का दूसरा आधार देखा गया—नियमित दिनचर्या और प्राकृतिक जीवन। नियमित दिनचर्या जीवन को सरल बनाती है, अनियमितता एवं अस्त-व्यस्तता से जुड़े अभिशाप से मुक्त करती है और एक सरल-सहज जीवन संभव बनाती है। इसके साथ प्राकृतिक जीवन व्यक्तित्व को उसकी मूल लय से जोड़ता है, जो स्वास्थ्य एवं नीरोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही दीर्घायुष्य का तीसरा आधार पाया गया—संतुलित, संयमित और सात्त्विक आहार।

आहार का स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। सात्त्विक आहार शरीर के साथ मन को हलका रखता है, संयमित आहार ऊर्जा के अनावश्यक क्षरण को रोकता है और स्वास्थ्य के स्रोत जीवनीशक्ति को पुष्ट करता है। इसके साथ संतुलित आहार जीवन को हर स्तर पर पोषित करता है और व्यक्ति को हर स्तर पर स्वस्थ एवं नीरोग रखता है।

इसके साथ देखा गया कि सुखमय वृद्धावस्था और दीर्घायु के लिए तीन बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है, जो उपरोक्त दिए सूत्रों को ही पुष्ट करती हैं। पहला है शारीरिक स्वास्थ्य, दूसरा है आर्थिक आत्मनिर्भरता और तीसरा है मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य। कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्थिक रूप से असुरक्षित एवं परमुखापेक्षी जीवन पग-पग पर गहरी मानसिक यंत्रणा और त्रास से गुजरने के लिए विवश होता है, ऐसे में सुखमय बुढ़ापे की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसलिए पाया गया है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इस दिशा में समय रहते उचित प्रयास होने चाहिए। फिर शरीर के साथ मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य का अपना महत्त्व है, जिसके लिए नियमित रूप से प्रयास-पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है, जो संतुलित दिनचर्या, प्राकृतिक जीवन, व्यस्तता, कठिन परिश्रम आदि के आधार पर संभव होते हैं। इसमें भी नित्यप्रति के सजग प्रयास अपेक्षित होते हैं।

इन आधारों पर विश्व के हर कोने में कितने ऐसे लोगों के उदाहरण देखे जा सकते हैं, जो सुखमय बुढ़ापे को जी रहे हैं व ऐसे कार्य कर रहे हैं, जो चकित कर देने वाले हैं। इतिहास के पन्नों में ऐसे तमाम उदाहरण देखने को मिलेंगे, जिन्होंने बड़ी आयु में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किए और अंतिम समय तक सक्रिय जीवन जीते रहे। प्रस्तुत हैं कुछ ऐसे ही उदाहरण, जो एक आशाभरे बुढ़ापे की तसवीर पेश करते हैं।

भगवान बुद्ध 82 वर्ष की आयु में निर्वाण को प्राप्त हुए थे तथा लंबी आयु तक धर्म का प्रचार करते हुए पदयात्रा करते रहे। द्रोणाचार्य सौ वर्ष के पार थे व तब भी रणसंग्राम में अग्रणी भूमिका निभाते हुए प्रत्यक्ष मार्गदर्शन प्रदान करते थे। गांधी जी 51 से 77 वर्ष तक स्वतंत्रता

संग्राम में अग्रणी भूमिका निभाते रहे और इसके साथ ही वे उत्कृष्ट साहित्य की रचना भी करते रहे। इसी तरह विनोबा जी ने भी जीवन के उत्तरार्द्ध में लगभग तेरह वर्ष तक लगातार भूदान हेतु देशभर के अधिकांश हिस्सों की पदयात्राएँ की थीं। सन् 1901 को इंग्लैंड में जन्मे सर फ्रांसिस चिचेस्टर ने सन् 1966-67 के दौरान सरकंडे की नाव में अकेले ही पूरे विश्व की परिक्रमा की थी।

इसी तरह कितने सारे दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ आदि अंतिम समय तक अपने सृजन कार्य में सक्रिय रहे और मानवता के लिए अपनी अपूर्व सेवाएँ देते रहे। संत सुकरात, प्लेटो, पाइथागोरस, होमर, गैलीलियो, निकोलस कोपर्निकस, विलियम वर्ड्सवर्थ, वैज्ञानिक थॉमस एडिसन से लेकर न्यूटन, सिसरो, आइंस्टीन, टेनीसन जैसे महामानव इसके प्रेरक उदाहरण हैं। सुकरात 70 वर्ष की आयु में दर्शन की विशद व्याख्या में जुटे हुए थे। प्लेटो अंतिम समय तक कठोर परिश्रम करते रहे और 81 वर्ष की आयु में कलम पकड़े मृत्यु को प्राप्त हुए। टेनिसन 80 वर्ष की आयु में ही क्रासिंग दि बार की रचना कर रहे थे। रॉबर्ट ब्राउनिंग 70 वर्ष में मृत्यु से कुछ पहले सर्वश्रेष्ठ कविताएँ रच रहे थे।

एच०सी० वेल्स ने 70वीं वर्षगाँठ के बाद एक दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की व यूटोपिया पर आधारित पुस्तकें जीवन के उत्तरार्द्ध में ही लिखी थीं। सिसरो ने मृत्यु से 1 वर्ष पूर्व 63वें वर्ष में ट्रीटाइज ओन ओल्ड एज की रचना की थी। कीरो ने 80 वर्ष की आयु में ग्रीक भाषा सीखी थी। यूनान के साहित्यकार प्लूटार्क ने 75 वर्ष की उम्र में नई भाषा सीखनी प्रारंभ की थी।

इटली के प्रख्यात उपन्यासकार वोकेशियो को ढलती आयु में साहित्यकार बनने की सूझी और मूर्द्धन्य कथाकार बन चमके। गर्लनिर रेंरवनिस 50 वर्ष तक दर्शन से अपरिचित थे, फिर रुचि जगी और विश्वविख्यात हुए। सुकरात ने 60 वर्ष के पार बुढापे की थकान और उदासी को दूर करने के लिए संगीत को अच्छा माध्यम मान गाना-बजाना सीखा।

विनोबा भावे कई भाषाओं के ज्ञाता थे व अंतिम वर्षों में सबसे कठिन भाषा चीनी सीख रहे थे। दामोदर सातवलेकर ने वेदभाष्य एवं आर्ष साहित्य में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 75 की उम्र के बाद प्रारंभ किए और 100 वर्ष तक लिखते रहे। (19.9.1867 से 31.7.1968)। ग्लेडस्टन लंबी उम्र तक राजनीति में सक्रिय रहे, 76 वर्ष तक तीन बार प्रधानमंत्री बने तथा 85 की आयु में उन्होंने 'ओडेसी ऑफ हॉरेस' की रचना की। इसी तरह राजनीति के क्षेत्र में चर्चिल, बैंजामिन फ्रेंकलिन, डिजरैली जैसे लोग वृद्धावस्था की चुनौती के बीच बहुत सक्रिय रहे और समाज की अमूल्य सेवा करते रहे। अमेरिकी अरबपति रॉक फैलर 100 वर्ष तक सक्रिय रहे। हेनरी फोर्ड 82 वर्ष तक चुस्त-दुरुस्त रहे।

इस तरह विश्वभर के ये तमाम उदाहरण जीवन के उत्तरार्द्ध में भी सक्रिय जीवन जी कर मिसाल प्रस्तुत करते हैं। परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवंदनीया माताजी के जीवन इसी तरह अंतिम समय तक सक्रियता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये सभी प्रेरक उदाहरण हमें एक ही संदेश देते हैं कि यदि हम जीवन का सही ढंग से नियोजन करना सीख जाएँ तो अपनी रचनात्मक शक्ति के साथ महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य कर सकते हैं और चुस्ती, स्फूर्ति एवं उमंग-उल्लास भरा जीवन जी सकते हैं। ❑

# वर्षा जल का संग्रह करें

पिछले कई वर्षों में देश में पानी एक बड़ी समस्या के रूप में उभरकर सामने आया है। इस संकट के कई रूप हैं, जो शहरों और गाँवों में अलग-अलग दिखते हैं। गावों में यह खेती और सिंचाई के सामने खड़े संकट के रूप में है, तो शहरों में पीने के पानी की कमी के रूप में। पीने के पानी की समस्या गाँवों में भी है, पर मीडिया का ध्यान शहरों पर ज्यादा केंद्रित होने से शहरी समस्या ज्यादा भयावह रूप में सामने दिखाई देती है। हम पेयजल के बारे में ही सुन रहे हैं, इसलिए खेती से जुड़े मसले सामने नहीं आ रहे हैं; जबकि इस समस्या का वास्तविक रूप इन दोनों को साथ रखकर ही समझा जा सकता है।

शहरीकरण के विस्तार से गाँवों से आबादी का पलायन शहरों की ओर हो रहा है। उसे देखते हुए शहरों में पानी की समस्या पर देश का ध्यान केंद्रित है। हाल में चेन्नई शहर से जैसी तसवीरें सामने आई हैं, उन्हें देखकर शेष भारत में घबराहट है। विगत दिनों केंद्रीय बजट में भारत सरकार ने घोषणा की है कि सन् 2024 तक देश के हर घर में 'नल से जल' पहुँचाया जाएगा। सरकार ने जलशक्ति के नाम से नया मंत्रालय भी गठित किया है, संभव है कि हर घर तक नल पहुँच जाएँ, पर प्रश्न यह है कि क्या उन नलों में पानी भी आएगा।

नीति आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार देश के करीब 10 करोड़ लोग पानी की समस्या से परेशान हैं। देश के 21 प्रमुख शहरों में भूमिगत जल लगभग समाप्त प्राय है। इनके परंपरागत जलस्रोत सूख चुके हैं। कुएँ और तालाब शहरी विकास की बलि चढ़ गए हैं। देश में पानी का संकट होने के साथ-साथ पानी की गुणवत्ता पर भी सवाल उठने लगे हैं।

नीति आयोग की पिछले साल की रिपोर्ट में यह भी बताया गया था कि पानी की गुणवत्ता के वैश्विक सूचकांक में भारत का स्थान दुनिया के 122 देशों में 120वाँ था। इस जल संकट की प्रस्तावना में चेन्नई का उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ पानी की आपूर्ति करने वाले चार जलाशय लगभग सूखे हैं।

यह हाल उस शहर का है, जो कुछ भारी वर्षा के कारण पानी में डूबा हुआ था। चेन्नई में आजकल घर के पानी के लिए महीने में 15 से 20 हजार रुपये तक लोगों को खरच करने पड़ते हैं। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि करीब 60 करोड़ लोग पानी की कमी का सामना कर रहे हैं। हर वर्ष लगभग दो लाख लोग साफ पानी की कमी के कारण जान गँवाते हैं। केंद्रीय जल आयोग ने बताया कि देश के दो-तिहाई जलाशयों का स्तर बहुत नीचे चला गया है।

बढ़ती आबादी को भी इस संकट का एक महत्त्वपूर्ण कारक बताया गया है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार सन् 2050 तक देश के शहरों में रहने के लिए 41.6 करोड़ लोग और आ जाएँगे। शहरों का विकास भी योजनाबद्ध तरीके से नहीं हुआ है। आबादी की एक बड़ी संख्या ऐसी बस्तियों में बसी है, जिनके लिए योजनाएँ बनाई ही नहीं गई हैं। इन शहरों में पीने के पानी की जो माँग आज है, 2030 तक बढ़कर वह दुगनी हो जाएगी। इन सबके ऊपर है वैश्विक जलवायु, जिसमें कभी भारी बारिश होती है और कभी सूखा पड़ता है।

धरती का लगभग 70 प्रतिशत क्षेत्रफल पानी से भरा हुआ है, जिसमें पीने लायक मीठा पानी सिर्फ 3 फीसदी है, शेष खारा है। इसमें भी मात्र एक फीसदी मीठे पानी का ही हम इस्तेमाल कर पाते हैं। प्राकृतिक जलचक्र के रूप में घूम-फिरकर यह पानी हमारे पास आता रहता है। यह जल उतना ही है, जितना दो हजार साल पहले था। यद्यपि जनसंख्या का अनुपात उस समय की तुलना में ज्यादा है, फिर भी यह हमारे लिए पर्याप्त है और लंबे समय तक पर्याप्त रहेगा, लेकिन तभी, जब हम उसका प्रबंधन ठीक से करें।

देश में हम हर साल केवल 15 फीसदी पानी का ही इस्तेमाल कर पाते हैं। शेष 85 फीसदी पानी बहकर समुद्र में चला जाता है। इजराइल जैसे देश को यदि देखा जाए, जहाँ सालाना वर्षा मात्र 40 सेमी के आस-पास होती है,

वहाँ उन्होंने अपनी खेती की तकनीक बदल दी है, इसके अलावा समुद्री खारे पानी को मीठा बनाने की बेहतर तकनीक भी उन्होंने विकसित की है। विशेषज्ञों का कहना है कि यदि जमीन के मात्र 5 प्रतिशत क्षेत्र में गिरने वाले वर्षा-जल का संग्रह किया जा सके तो पूरी आबादी को तकरीबन 100 लीटर पानी हर रोज मिल सकता है।

देखा जाए तो भारत में औसत वर्षा करीब 110 सेमी सालाना है; जबकि चीन और अमेरिका जैसे देशों में इसकी आधी है, पर इसके विपरीत वहाँ खेती की पैदावार हमसे बेहतर है। इसलिए हमें जल प्रबंधन पर ध्यान देने की जरूरत है। देश के अनेक इलाकों में जल प्रबंधन के कारगर परंपरागत तरीके प्रचलित हैं, जिनको प्रोत्साहित करने और संरक्षण देने की जरूरत है। इसके अलावा जल-प्रबंधन को एक देशव्यापी आंदोलन का रूप भी दिया जाना चाहिए।

विद्यालयों, कॉलेजों में विद्यार्थियों को इसके बारे में जागरूक करना चाहिए और इससे संबंधित उचित जानकारी भी उन तक पहुँचानी चाहिए। इसमें देश का मीडिया तंत्र जो कार्य कर रहा है, वह सराहनीय तो है, पर उसे इसे और गंभीरता से लेने की जरूरत है। साथ ही ऐसे जल-प्रबंधन के आदर्श उदाहरणों को भी जनसमूह के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए। ऐसे अनेकों सामूहिक प्रयासों से ही वर्तमान के साथ-साथ आने वाली पीढ़ी को जीवनरूपी जल प्रचुर मात्रा में उपहार रूप में प्रदान किया जा सकता है। ❑

---

**एक बार धर्म और अधर्म दोनों अपने-अपने रथ में बैठकर कहीं जा रहे थे। तभी उन दोनों के रथ एक ही राह में आमने-सामने हो गए। अब कौन दूसरे के लिए रास्ता छोड़े, इस पर उनमें विवाद छिड़ गया। धर्म ने अधर्म से कहा—"भाई! तू अधर्म है और मैं धर्म हूँ। मेरा मार्ग ठीक होता है। मैं पुण्यदायक और सभी के द्वारा पूजित व प्रशंसित हूँ, इसलिए मार्ग दिए जाने योग्य मैं ही हूँ।" अधर्म बोला—"हे धर्म! मैं अधर्म हूँ और इसलिए मार्ग दिए जाने योग्य मैं ही हूँ।" अधर्म पुनः बोला—"हे धर्म! मैं अधर्म हूँ और निर्भय व बलवान हूँ। मैंने आज तक कभी भी किसी को मार्ग नहीं दिया। यह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैं तुझे मार्ग कैसे दे सकता हूँ?" धर्म ने फिर समझाया—"देखो भाई! लोक में पहले धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, बाद में अधर्म का। धर्म ही ज्येष्ठ है, धर्म ही श्रेष्ठ है, सनातन है। इसलिए हे कनिष्ठ! तू मुझ ज्येष्ठ के लिए मार्ग छोड़ दे।" इस पर अधर्म बोला—"ये सब कोई उचित कारण नहीं हैं। आओ, युद्ध करें। जिसकी जीत हो, रास्ता उसी का।" फिर धर्म ने समझाने की कोशिश की—"मैं चारों दिशाओं में फैला हुआ महाबलवान, यशस्वी व अतुलनीय, परम गुणवान हूँ। तू मुझसे कैसे जीतेगा?" अधर्म बोला—"लोहे से सोना पिघलता है, सोने से लोहा नहीं। आज अधर्म ही धर्म को पराजित करेगा।" धर्म बड़ा दुःखी हो गया। धर्म ने कहा—"मैं युद्ध नहीं करना चाहता। मैं तेरे वचनों के लिए तुझे क्षमा करते हुए जाने का मार्ग देता हूँ।" सज्जन लोगों की यही पहचान होती है।**

---

परमवंदनीया माताजी की अमृतवाणी-1

# मनुष्य में देवत्व का उदय

(पूर्वार्द्ध)

**परमवंदनीया माताजी के उद्बोधनों में यह मौलिकता है कि उन्होंने परमपूज्य गुरुदेव के विचार, दर्शन, योजना एवं उद्देश्यों को जनसामान्य तक ऐसी भाषा में पहुँचाया है कि उनके शब्दों को सुनने वाले न केवल भावना की दृष्टि से तृप्त अनुभव करते हैं, अपितु चिंतन की दृष्टि से ऐसी प्रखरता को अनुभव करते हैं, जो हर गायत्री परिजन को एक नूतन पुरुषार्थ के साथ कार्य करने की भावना प्रदान करती है। ऐसे ही प्रस्तुत इस उद्बोधन में वंदनीया माताजी गायत्री परिवार की स्थापना के उद्देश्य—मनुष्य में देवत्व की स्थापना, धरती पर स्वर्ग का अवतरण की ओर सभी का ध्यान आकर्षित करते हुए कहती हैं कि उस महती उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हममें से प्रत्येक को अपने भीतर एक नवचेतना का जागरण करना अनिवार्य होगा। आइए हृदयंगम करते हैं उनकी अमृतवाणी को........**

## मनुष्य में देवत्व के उदय का स्वप्न

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

*ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।*

आत्मीय परिजनो! बहुत दिन पहले की बात है। गुरुजी ने और हमने एक स्वप्न देखा था, एक ख्वाब देखा था। क्या ख्वाब देखा था? यह देखा था कि पृथ्वी पर मानव में देवत्व का उदय होगा। उन्होंने कहा था कि जब तक पृथ्वी पर एक भी प्राणी नरक में रहता है, तब तक हमें अपने लिए उस स्वर्ग की कोई आवश्यकता नहीं है। हम तब तक स्वर्ग में नहीं जाएँगे। हम इसी पृथ्वी पर रहेंगे। हमारा मानव समुदाय जो इस नरक में पड़ा है, हम उसी के साथ में रहेंगे। फिर से आना पड़ेगा तो फिर आएँगे। कब तक आएँगे? अरे! जब तक हजार जन्म मिलेगा, तब तक आएँगे। तब तक आएँगे? हाँ! तब तक आएँगे। इसके लिए जो स्वप्न देखा था, वह आज पूरा हुआ। स्वप्न पूरा हुआ, लेकिन संकल्प पूरा नहीं हुआ।

बेटे! जो स्वप्न हमने देखा था मानव में देवत्व के उदय का, उसकी साक्षात् मूर्ति हमारे सामने बैठी है। बेटे, आज नन्हे-मुन्ने बच्चों के रूप में हम आपको यह मानते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण के समय में आए हुए ग्वाल-बाल हैं। भगवान श्रीकृष्ण के समय जिन ग्वाल-बालों ने जन्म लिया, उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उठाने में अपनी लाठी लगाई थी। चेतना भगवान श्रीकृष्ण की थी, लेकिन सामर्थ्य और बल, संकल्पशक्ति उन ग्वाल-बालों की भी थी, जिन्होंने लाठी लगाई। मानते हैं कि कृष्ण यदि प्रेरणा नहीं देते, तो ग्वाल-बाल खड़े नहीं हो सकते थे। उनके अंतःकरण में देवत्व को श्रीकृष्ण ने जगाया।

इसी तरह भगवान राम के समय में देवता अपना स्वरूप बदल करके इनसान के रूप में नहीं आए थे, वरन रीछ-वानरों के रूप में आए थे। वे देवता के रूप में मुकुट पहन करके नहीं आए थे, पीतांबर पहन करके नहीं आए थे। किसके रूप में आए थे? गिलहरी के रूप में आए थे, शबरी के रूप में आए थे और वानरों के रूप में, हनुमान, जामवंत आदि अनेक रीछ-वानरों के रूप में देवता आए थे। वे भगवान राम के सहयोगी के रूप में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने कैसा गजब का काम किया? उसमें अकेले उनकी सामर्थ्य थी क्या? यदि राम ने उनके

व्यक्तित्व को ललकारा नहीं होता, तो वे वानर-के-वानर ही रह गए होते।

## देवत्व की परिभाषा

बेटे, इसमें किसकी विशेषता है? इसमें भगवान राम की विशेषता है, लेकिन कम विशेषता उनकी भी नहीं है, जिन्होंने रीछ-वानर होते हुए भी कहा कि भारतीय संस्कृति को, माँ सीता को खोज लाने को, माँ सीता को राक्षसों से छुड़ाकर लाने के लिए हम तैयार हैं। हम अपनी जान की बाजी लगा देंगे। हमारी पूँछ में आग लगे-तो-लगे, देखा जाएगा। हमारी जान जाए-तो-जाए, लेकिन अपनी सीता माँ की इज्जत बचाने के लिए और सीता माँ को वापस लाने के लिए हम अपनी जान की कुरबानी दे देंगे।

किसने कहा? देवताओं ने कहा। वही देवता, जिन्हें आप भजते हैं। आप लोग यह मत समझिए कि हमारा और आपका साथ इसी जन्म का है। नहीं बेटे, अनेक जन्मों के संस्कार हैं आपके और अनेक जन्मों से आप जुड़े हुए आ रहे हैं। नहीं तो पड़ोस में बैठे हुए और बहुत से लोग हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आपका परिवर्तन कैसे हुआ। अरे माताजी! आपने हमें देवता की इतनी बड़ी संज्ञा दे दी।

बेटे! जब माँ देखती है तो अपने बच्चे का मापदंड अपनी दृष्टि से करती है, तो बच्चा अपनी दृष्टि से करता है। आज हम देखते हैं कि आपके अंदर थोड़ा-सा यह स्वरूप क्यों नहीं है। अभी यह बीज फला-फूला नहीं है, लेकिन उसमें से अंकुर निकलना शुरू हो गया है। एक-एक महीने का समय ले करके आप बगैर किसी परवाह के आए, जाने छुट्टी मिलती है कि नहीं मिलती है। कोई कहता है कि हमारा बच्चा बीमार है, कोई कहता है कि हमारी पत्नी बीमार है। कोई कहता है कि अरे माताजी! हमको पगार इतनी मिलती है। अच्छा बेटे, तेरे मन में यह क्यों आया।

देवता होता है—देने वाला और दानव, राक्षस होता है—लेने वाला। लेने वाले के मन में सिवाय स्वार्थ के कोई और बात ही नहीं आती है। स्वार्थपरता के अतिरिक्त उसे और कुछ सूझता नहीं। परमार्थ तो उसके समक्ष आया ही नहीं। यह दुनिया किस अग्नि के कगार पर बैठी है, यह तो हमारी कल्पना में भी नहीं आता। यह कल्पना किसके मन में उठेगी? देवता के मन में उठेगी और जिस समय देवता का संकल्प जगेगा, तो उसे रोकने वाला कोई नहीं होगा। उसे कोई रोक नहीं सकता।

## गुरुदेव की तपश्चर्या की तीन पूर्णाहुतियाँ

बेटे, एक दिन गुरुजी के अंदर संकल्पशक्ति जागी, तो आज तक उसका निर्वाह हो रहा है। अभी जो तीन पूर्णाहुति जो हमारी हैं, वे कौन-कौन सी हैं? एक पूर्णाहुति वह जो गुरुजी ने तीन वर्ष तक तपश्चर्या की। सूक्ष्मीकरण की तपश्चर्या किसके लिए की? अरे बेटे, सारे संसार के लिए की, अपने लिए नहीं की। अपने लिए हमें क्या आवश्यकता है। अपने लिए क्यों करेंगे। सारे संसार के लिए किया और उसकी उपलब्धि भी बढ़ गई और अपने परिजनों की भी बढ़ गई। यह तपश्चर्या उन्हीं के लिए की गई। इसकी पूर्णाहुति इस वसंत पर होगी।

दूसरी पूर्णाहुति हीरक जयंती वर्ष की होगी, जो तीन वर्ष के लिए लागू है। दो वर्ष पूरा होकर उसका तीसरा वर्ष चल रहा है और अब गुरुजी 77 वर्ष में हैं। इस समय हमने दो साल हीरक जयंती वर्ष मनाया। इस हीरक जयंती वर्ष की पूर्णाहुति में उन्होंने अपना सारा जीवन सार्थक कर लिया। चौबीस वर्ष उन्होंने जो प्रार्थना की थी, तपश्चर्या की थी, अरे बेटे वह तो चुक गई। जितना कमाया, उतना खरच हो गया। फिर आमदनी का स्रोत, संग्रह का स्रोत क्या है? जब तक संग्रह नहीं किया जाएगा और जब तक कोई संपत्ति नहीं होगी, तो फिर आप क्या कर सकते हैं? किसी को क्या दे सकते हैं? नहीं दे सकते हैं।

बेटे! आप ऊँचा उठेंगे तो हम ऊँचा उठा देंगे। ऊँचा नहीं उठेंगे, तो फिर किस तरीके से सेवा कर पाएँगे। अब सेवा का व्रत पूरा हो गया है। 50 साल आपकी अखण्ड ज्योति को हो गए। इतनी बड़ी संख्या में मैं समझती हूँ कि कोई भी हिंदुस्तान की पत्रिका नहीं निकलती, जितनी की आपकी अखण्ड ज्योति निकलती है। अखण्ड ज्योति को निकलते हुए 50 वर्ष पूरे होंगे। उसकी स्वर्ण जयंती है। स्वर्ण जयंती की पुनरावृत्ति इस वर्ष है।

आपको मालूम नहीं है कि अखण्ड ज्योति इतनी बड़ी संख्या में छपती है। हमने सरकारी डायरेक्टरी देखी है। उसमें सन् 1984 नहीं, सन् 1980 का जो विवरण उन्होंने दिया है, उसके अनुसार तो एक लाख तीस हजार है और कल से तो दो लाख से भी ज्यादा हो गई। युग शक्ति गायत्री जो गुजराती में निकलती है, वह भी लगभग इतनी ही हो

गई। यह वह माध्यम है, जिससे कि आप हमसे जुड़े हैं और हम आप तक पहुँच सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं था और कोई माध्यम है भी नहीं, सिवाय ज्ञान के, सिवाय पत्रिका के, जिस पत्रिका से आप जुड़े हुए हैं।

बेटे, अभी तो इस पत्रिका के दो लाख सदस्य हैं, लेकिन वह संकल्प भी दूर नहीं है कि आने वाले समय में, अगले वर्ष में 'हीरक जयंती' वर्ष में, जिसको हम सूक्ष्मीकरण की पूर्णाहुति कहते हैं, स्वर्ण जयंती वर्ष कहते हैं, आप सही मानना वह पाँच लाख से कम नहीं होगी। पाँच लाख पत्रिका के सदस्य हो जाएँगे, जो जनमानस की चेतना को जगाने के लिए हमारे संकल्प को पूरा करेंगे। तो क्या यह यहीं तक पूरा हो जाएगा? अरे नहीं बेटे, यह तो अभी पाँच लाख है, अभी देखता जा आगे कितना होता है। क्यों? अंत:करण में जो देवता बैठा है न, ये गुरु बैठा है, वह हर समय झकझोरता रहता है। हर समय प्रेरणा देता है कि उठो! उठो!! उठो!!!

बेटे, आज तक सतहत्तर वर्ष की उम्र में भी कोई विराम नहीं। विराम नाम की कोई चीज भी होती है क्या, जाना ही नहीं। सारा जनमानस, सारे विश्व का मानव संप्रदाय विनाश के जिस कगार पर खड़ा हुआ है, जो अग्नि में धधक रहा है, सुलग रहा है, झुलस रहा है, उस पर पानी कौन डालेगा? उसको शीतलता कौन देगा? बेटे, शीतलता देने की बारी जो आती है, वह आपके साहित्य की और आपकी है।

इन दिनों गुरुजी बोलते नहीं हैं, गुरुजी जनमानस तक नहीं पहुँच सकेंगे, लेकिन उनके विचार पहुँचेंगे और आप जो नन्हे-नन्हे दीपक हैं, जब तक साथ प्रज्वलित हो जाएँगे, तो चाहे दीपावली की अँधेरी अमावस्या ही क्यों न हो, उसमें भी तर्क वाले भी आपके बताए हुए रास्ते पर चलेंगे; क्योंकि वे आपसे प्रकाश पाएँगे।

## दिए गए संकल्प का निर्वहन

बेटे, आप नन्हे हैं तो क्या? आपने हिम्मत तो नहीं हारी है। छोटे हैं तो क्या? नाचीज हैं तो क्या? आपके अंदर जो देवत्व उदय हो चुका है अब, तब इतनी-सी कमी है कि इसको बार-बार जगाना पड़ेगा और उठाना पड़ेगा। आप उठा लेंगे तो समर्थ हो जाएँगे और अगर नहीं उठा पाए, जहाँ-के-तहाँ रहे और बड़े भावावेश में रहे और वहाँ गए तो फिर साफ। तो फिर काम नहीं चलेगा।

यह संकल्प आपने लिया है, आपको उसे बार-बार दोहराना पड़ेगा। दोहराना ही नहीं पड़ेगा, वरन उसके लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा और आपको उस संकल्प की पूर्ति करनी पड़ेगी और वो है संकल्प की पूर्ति—जो हमारा यज्ञ-आयोजन है। इस यज्ञ-आयोजन में जिन्होंने कि 108 कुंडीय यज्ञ का संकल्प लिया है, इन यज्ञ-आयोजनों में आपको आगे-आगे चलना है। और वहाँ जा करके आपको व्यवस्था बनानी है। कार्यकर्त्ताओं की व्यवस्था बनानी है। यज्ञशालाओं की व्यवस्था बनानी है। पंडाल की व्यवस्था बनानी है। आपको अनेक व्यवस्थाओं में हाथ बँटाना है। वहाँ के स्थानीय समाज में घुलना-मिलना है। यज्ञ-आयोजन संपन्न करके फिर आगे चलिए।

बेटे, क्या इस एक यज्ञ से ही, जिसका आपने संकल्प लिया है, उसकी पूर्ति हो जाती है? नहीं बेटे, यह तो शुरुआत है। अभी दो सौ यज्ञों की तो तारीखें निश्चित हो गई हैं। अभी तो आपके द्वारा और यज्ञ होने हैं। आपको विराम नहीं लगाना है। अभी तक हमारे मन में यही विचार था कि बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ भेजेंगे और 108 कुंडीय यज्ञ-आयोजन करेंगे।

## जनचेतना के जागरण के लिए यज्ञ

नहीं बेटे, जनमानस में चेतना जगाने के लिए हम नौ-नौ कुंडीय यज्ञ भी करेंगे, जो हमने अभी तक स्थगित कर रखे थे। अब हम आप सब लोगों से कहते हैं कि आप अब नौ-नौ कुंडीय यज्ञों की भी योजना बनाना। जो बेचारे 108 कुंडीय यज्ञ नहीं कर सकते, वे नौ कुंडीय यज्ञ तो कर ही सकते हैं। उससे जो विचार उठेगा, जो परिष्कार होगा, वह अपने आप में बड़े गजब को होगा। यह बहुत जरूरी है।

बेटे, यह हमारी भारतभूमि कभी यज्ञभूमि थी। अब हम इसको फिर से यज्ञभूमि बनाने जा रहे हैं, जिसमें आप लोग भी शामिल हैं। हमारी यह भारतभूमि यज्ञभूमि होकर के रहेगी। यज्ञ में जो विचार, जो चेतना जागेगी, फिर देखना इस देश में कैसे-कैसे रत्न पैदा होते हैं। रत्न तो अभी भी हैं, पर वे मिट्टी में पड़े हुए हैं। अभी वे मिट्टी में से निकले नहीं हैं।

यज्ञ के माध्यम से, विचारों के माध्यम से उन रत्नों को मिट्टी में से निकालना है। उनको झकझोरना है। उनकी ठोढ़ी में हाथ डालना है। अरे भाईसाहब! आप तो ऐसे रत्न हैं, कहाँ मिट्टी में दबे पड़े हैं। कहाँ स्वार्थों

में जकड़े हैं। जरा ऊँचे उठिए। यज्ञमय जीवन जिएँ। ब्रह्ममय जीवन जिएँ। आगे-आगे चलिए। आगे चलिए, जिससे लोगों को प्रेरणा मिले। यह कार्य आपको करना है।

बेटे, क्या आप अकेले जाइएगा? आप अकेले नहीं जा रहे हैं। आप यह न समझें कि हम अकेले हैं, आप अकेले नहीं हैं। जिस समर्थ सत्ता के हवाले आपने अपने को किया है, वह ऐसा खिवैया है कि उसकी नाव में जो कोई बैठा है, वह डूबा नहीं है। जिसने इनकार कर दिया बैठने से, उसका तो हम कहते नहीं हैं, यद्यपि उसको भी अपनी उँगली पकड़ाने की कोशिश की और आगे बढ़ाने की कोशिश की, लेकिन जब कुसंस्कार उदय होते हैं, तब तो सब संस्कार बहते हुए चले जाते हैं, क्योंकि उनकी ज्यादा प्रबलता होती है। प्रबलता ही नहीं होती, उन्माद भी रहता है और उन्माद जिधर को चलता है; वह उधर को चलता ही रहता है। अत: वह तो डूबेगा ही, हम क्या करें?

कहते हैं कि बेटे आगे मत जाओ, गहरा पानी है और वह आगे बढ़ता ही जा रहा है, तो वह डूबेगा ही, हम क्या कर सकते हैं। नहीं बेटे, इस नाव में जो कोई बैठेगा, हमारा प्रत्येक से वादा है कि हम डूबेंगे, तो आप भी डूबेंगे और हम नहीं डूबे तो आप भी नहीं डूबने वाले। किसी भी कीमत पर आप नहीं डूबने वाले। आपके भौतिक साधनों में कमी आती है तो आए, इसके लिए हमारा कोई चैलेंज नहीं है। जब आपका दिमाग केवल भौतिकता की ओर है, तो हम क्या कर सकते हैं। या तो आप भौतिकता ही पा लीजिए या आध्यात्मिकता के मार्ग पर ही चलिए।

### आध्यात्मिकता का मार्ग

बेटे, आध्यात्मिक मार्ग वह है, जिस पर महात्मा गांधी चले, जिस पर विनोबा भावे चले, जिस पर भगवान बुद्ध चले और जिस पर हमारे महापुरुष चले। वह है अध्यात्म मार्ग और जो अध्यात्म मार्ग पर चल जाता है, वह किसी सीमा में बँधकर नहीं रहता। वह असीम बन जाता है और असीम हो जाता है।

तब सारी वसुधा उसकी अपनी हो जाती है और सारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उसका परिवार है, कुटुंब है। उसके भाई और भतीजे हैं, उसके बच्चे हैं। फिर वह दो और चार बच्चों से और गृहस्थी से कैसे बँध सकता है। अध्यात्मवादी तो बँधेगा नहीं। वह उन जंजीरों से खुलेगा और आगे बढ़ेगा। सीमा से आगे बढ़ेगा। उत्तरदायित्व निभाने पड़ेंगे। बीबी है, बच्चे हैं, क्या उनका उत्तरदायित्व नहीं निभाना है?

अध्यात्मवाद में यह थोड़े ही है कि उत्तरदायित्व से पलायन करें। पलायनवाद नहीं है। यह नहीं है कि यह संसार तो मिथ्या है बच्चा। संसार से हटिए। तो कहाँ जाएँ? कहीं गुफा में बैठ जाइए। फिर क्या कीजिए? अच्छा तो खाना कहाँ से आएगा? खाना तो समाज से ही आएगा। और पहनने को? वह भी समाज से आएगा। तो जब सब समाज से ही आएगा, तो समाज को क्यों ठोकर मार रहा है, जब कि हम सारा-का-सारा समाज से ही लेते हैं।

---

**इस धरती पर स्वर्ग का अवतरण और इसी मानव प्राणी में देवत्व का उदय हमें अभीष्ट है और इसके लिए हम भागीरथ तप करेंगे। ज्ञान की गंगा को भूलोक में लाया जाएगा और उसके पुण्य जल में स्नान कराके कोटि-कोटि नर-पशुओं को नर-नारायणों में परिवर्तित किया जाएगा। इसी महान शपथ और व्रत को ज्ञानयज्ञ के रूप में परिवर्तित किया गया है।**

**विचार क्रांति की आग में गंदगी का कूड़ा-करकट जलाने के लिए होलिका दहन जैसा अपना अभियान है। अनीति और अनौचित्य के गलित कुष्ठ से विश्वमानव का शरीर विमुक्त करेंगे। समग्र कायाकल्प का, युग-परिवर्तन का लक्ष्य पूरा ही किया जाएगा। ज्ञानयज्ञ की चिनगारियाँ विश्व के कोने-कोने में प्रज्वलित होंगी। विचार क्रांति का ज्योतिर्मय प्रवाह जन-जन के मन को स्पर्श करेगा।** —***परमपूज्य गुरुदेव***

---

## जनमानस के परिष्कार के लिए विचारक्रांति-अभियान

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक प्राणी है तो समाज का जो ऋण है, वह भी प्रत्येक अध्यात्मवादी को चुकाना ही पड़ेगा और चुकाना चाहिए। जिसका कि आपने यह संकल्प लिया है और जिसका कि हमने ख्वाब देखा है और आप लोगों के अंदर इस देवत्व का उदय किया है। देवत्व आपके भीतर आ गया है। अब आप आगे-आगे चलिए। हमारे जो भी आयोजन हैं, जो विचारक्रांति-अभियान है, वह जनमानस के परिष्कार के लिए है।

आज अनेक कुप्रथाओं ने जन्म ले लिया है। दहेज—एक, मृत्युभोज—दो और न जाने क्या-क्या, दुनिया की तमाम कुरीतियों से लेकर के जाने क्या-क्या उदय हो गए हैं। जादू-मंतर, टोना-टोटका, भूत-पलीद न मालूम क्या-क्या पैदा हो गए। बेटे, उन सबका सफाया करना है। आज हमारी बेटियों की लाज जाती है। हमारी बेटियाँ क्वारी रह जाती हैं। आज देखते नहीं बनता कि कैसे-कैसे कन्याएँ प्रताड़ित होती हैं। दहेज के पीछे, दौलत के पीछे हमारी बच्चियाँ कोई फाँसी पर लटकती हैं, कोई आग लगाकर मरती हैं। कोई क्या करती हैं, कोई क्या करती हैं? क्यों सताई जाती हैं हमारी बच्चियाँ?

बेटे, सब सुनकर हमारा कलेजा छलनी हो जाता है। न कुछ कहते बनता है, न कुछ करते बनता है। पर यह सब मानना कि मरती तो वो हैं, पर ऐसा मालूम पड़ता है कि जाने हमारी कौन-सी बेटी जा रही है। इसके लिए किसका उत्तरदायित्व है? इस समाज का है और किसका है। पर आप संकल्प ले सकते हैं कि हम न दहेज लेंगे और न दहेज देंगे, चाहे हमारी बेटी गरीब परिवार में जाएगी-तो-जाएगी। हमें नहीं चाहिए दहेज।

हमको नहीं चाहिए कोई डॉक्टर, नहीं चाहिए कोई इंजीनियर, न कोई चाहिए अफसर। हम तो साधारण मास्टर को अपनी बेटी देंगे, चाहे रिक्शाचालक से करेंगे, लेकिन हम नहीं करेंगे ऐसे भेड़िये से, जो हमारी बच्ची को खा जाए। जिसके घर में पैसा है, वह हमारी बच्ची को क्या इज्जत देगा? वह हमारी बच्ची की इज्जत नहीं कर सकता। हमने जिस बच्ची को खून-पसीने से पाला है, वह हमारे कलेजे का टुकड़ा है।

## भगवान राम का आदर्श

उस माँ से पूछिए जिस माँ ने जन्म दिया है और नौ महीने धारण किया है और अपनी बच्ची को पैदा किया है। उसको पढ़ाया-लिखाया है और फिर उस राक्षस के हवाले किया है। वह राक्षस न तो लड़की को जिंदा रहने देता है, न मरने देता है। मरने भी नहीं देता और जिंदा भी नहीं रहने देता। कहता है मेरी पत्नी है। तेरी पत्नी है तो पत्नी के तरीके से रख और ऐसे रख, जैसे भगवान राम ने सीता को रखा था। किसी कारण वनवास तो हो गया था और उसमें धोबी के यहाँ का चक्कर आ गया था, तो सीता को त्यागना पड़ा था, लेकिन अश्वमेध यज्ञ के समय उन्होंने यह कहा था कि यज्ञ संचालन तब होगा, जब सीता साथ बैठेंगी और भगवान राम ने सोने की सीता को साथ में बिठाया था। यह आदर्श तो हमारे प्रत्येक घर में होने ही चाहिए।

बेटे, यह आदर्श आप लोगों को ग्रहण करने हैं। आप लोगों को करना है और अन्य लोगों को बताना है। इसमें मृत्युभोज भी है, इसमें बाल विवाह भी है। इसमें परदा-प्रथा भी है। खैर परदा-प्रथा तो अब नाममात्र की रह गई है। अब तो प्रगतिशील जमाना हो गया है, परदा तो नहीं है, लेकिन हाँ इतना परदा तो चाहे रूढ़िवादी कहें, चाहे जो भी हो, इतना परदा तो होना ही चाहिए। कौन-सा? आँखों का।

साड़ी के पल्ले की कोई कीमत नहीं है कि हमने यहाँ तक कर लिया, वहाँ तक कर लिया, लेकिन आँखों का लिहाज, नम्रता, शालीनता तो हमारे घरों में होनी चाहिए। वह है कहाँ? सब पलायन कर गई आपमें से। यहाँ मैं आपका समय तो ज्यादा नहीं लूँगी, पर मैं एक बात आपसे कह रही थी कि साहित्य के द्वारा जो आपने पढ़ा है, जो आपने समझा है, इस साहित्य को आपको घर-घर पहुँचाना है।

यह आपकी जिम्मेदारी है, आपकी जवाबदारी है। यज्ञायोजन आपको सफल बनाने के लिए आगे आ करके आपको कदम रखना है। अखण्ड ज्योति के ग्राहक तो आप ही बनाएँगे और कौन बनाएगा? हमें बनाना है, आपको बनाना है। आप हमारे हैं तो हमारा फर्ज भी होता है, हमारा कर्त्तव्य भी होता है, हमारा अधिकार भी होता है। आपका अधिकार है हमारे ऊपर, तो हमारा भी तो अधिकार है आपके ऊपर।

बेटे, जबानी जमाखरच करने में आपका क्या जाता है, जरा बताइए। नहीं साहब! घर में ही सड़ते रहेंगे। घर में

नहीं सड़ेंगे, चलिए आप बाहर निकलिए। अगर आप घर में सड़ेंगे, तो फिर आप समझ लीजिए कि हम और गुरुजी घर में आएँगे और आप सोते हुए मिले तो पीछे से एक ऐसा डंडा लगाएँगे कि बस दाल-आटे का भाव याद आ जाएगा बेटे जी को। माताजी इतनी नाराज नहीं होती हैं, पर पिताजी की नाराजगी अभी आपने देखी नहीं है। वे इतने उलटे हो जाते हैं कि कहते नहीं बनता। लोगों की घिघ्घी बँध जाती है। कुछ कहने जाते हैं और मुँह से कुछ और निकलता है।

कभी-कभी मैं भी कहती हूँ कि रहने दीजिए, अभी बच्चा है। इतनी जोर से मत डाँटिए, पर नहीं मानेंगे, तो फिर माँ भी कम नहीं है। माँ का डंडा भी कम नहीं पड़ेगा। जो आपको दिया है, यह यों ही पड़ेगा और यहीं पड़ेगा। ठीक मानना, आपकी पीठ पर यह न पड़े, तो चाहे जो कहना आप, देख लेना। आप कैसे-कैसे प्यारे बच्चे हैं, छाती से लगाने लायक, सीने से चिपकाने लायक। बेटे आपको डंडे क्यों पड़ेंगे ? हम नहीं पड़ने देंगे, पर नहीं मानेंगे, तो पड़ेगा ही। धमकाती भी हैं, तो धमकाना भी पड़ेगा। इसलिए यह तो हँसी की बात है, परंतु बेटे, आपको अपने पुरुषार्थ को जगाना होगा।

बेटे, आपको अपने पुरुषार्थ से सारे समाज के लिए, सारे राष्ट्र के लिए पुनर्जागरण का शंख बजाना है, शंख फूँकना है और बिना किसी हिचकिचाहट के आपको अपने विचारों का प्रतिपादन करना है। चाहे आप कम पढ़े-लिखे ही क्यों न हों, आप तो यह कहना कि हम तो माइक हैं साहब ! हम चोंगे हैं और हम बल्ब हैं। करेंट तो जनरेटर से आ रहा है, पावर हाउस से आ रहा है। कहाँ से आएगा करेंट ? हमारे गुरुजी के विचार हैं, आप उन्हें सुनिए, जिन्होंने हम जैसे नाचीज को आगे बढ़ाया। हम जो गीली मिट्टी थे, उस गीली मिट्टी में उन्होंने हमारे अंदर जान डाली है। क्या उस एहसान को भुला दिया जाएगा। अभी जो लड़के गा रहे थे—इस एहसान को भुलाया न जाएगा। अरे बेटे ! कैसे भुला सकते हैं ? आप भुला सकते हैं ? आप नहीं भुला सकते। किसी भी कीमत पर आप भुला नहीं सकते।

[ **क्रमशः अगले अंक में समापन** ]

---

**एक राज्य में एक सिद्धपुरुष रहते थे, जिनका नाम अपिकुरु था। वे एक छोटे-से उपवन में कुटिया बनाकर रहते थे। वे सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। राजा ने उनके बारे में सुन रखा था। एक बार राजा को उनसे मिलने की इच्छा हुई।**

**राजा ने अपिकुरु के पास जाकर पूछा—"आपके पास तो कुछ भी नहीं है, फिर आप आनंदित कैसे रहते हैं ?" अपिकुरु बोले—"महाराज! आवश्यकता से अधिक संग्रह न करके परिश्रम से जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसी में संतुष्ट रहना ही हमारे आनंदित रहने का रहस्य है।"**

**राजा ने कहा—"हम आपको बहुमूल्य उपहार देना चाहते हैं।" अपिकुरु ने कहा—"महाराज! हमें कोई आवश्यकता नहीं। जितना परमात्मा ने दिया है, उतने में मैं संतुष्ट हूँ।" राजा यह सुनकर अपिकुरु की संतोषी वृत्ति के समक्ष नतमस्तक हो गए।**

---

# सफलता के सोपानों को छूता विश्वविद्यालय

मानवता के इतिहास में कभी-कभी ऐसे समयों का आगमन होता है, जिनकी तुलना ऐतिहासिक और अविस्मरणीय समयों से की जा सकती है। वर्तमान समय की परिस्थितियाँ ऐसे ही युगांतरकारी समय की परिभाषा को सत्य सिद्ध करती नजर आती हैं। परमपूज्य गुरुदेव ने वर्तमान समय को इसीलिए युग-परिवर्तन का समय कह करके पुकारा और यह कहा कि वर्तमान समय में मानवता के सम्मुख दो तरह के पथ आ खड़े हुए हैं।

इनमें से प्रथम पथ पर बढ़ने पर विनाश एवं विध्वंस के अतिरिक्त और कोई परिणाम प्राप्त होता दिखाई नहीं पड़ता। यह पथ वो पथ है, जहाँ पर मनुष्य स्वार्थ एवं संकीर्णता का सहारा लेता है और मात्र अपने हितों को पूरा करने में जीवन उद्देश्य को निरत कर देता है। दूसरा पथ वह पथ है, जिसे पूज्य गुरुदेव ने शांतिकुंज की स्थापना का आधार माना एवं उस पथ पर चलने वालों को अपने भीतर सन्निहित देवत्व के जागरण के लिए प्रोत्साहित किया। यह पथ शुभ, मंगल और कल्याण की प्राप्ति का पथ है।

आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर परमपूज्य गुरुदेव और परमवंदनीया माताजी ने शांतिकुंज की स्थापना की और शांतिकुंज के स्वर्ण जयंती वर्ष में इसी उद्देश्य को स्मरण करते हुए अनेकों ख्यातिप्राप्त विभूतियों का आगमन हुआ। उनके आगमन के साथ ही स्वर्ण जयंती वर्ष व्याख्यानमाला के तहत समस्त गायत्री परिजनों को उनके विचारों से अवगत होने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

इसी क्रम में भारत गणराज्य के गृहमंत्री माननीय श्री अमित शाह जी का आगमन देव संस्कृति विश्वविद्यालय के दिव्य प्रांगण में हुआ। इस अवसर पर 'मनुष्य में देवत्व का उदय, धरती पर स्वर्ग का अवतरण' विषय पर उनका विशिष्ट उद्बोधन भी हुआ। मृत्युंजय सभागार में आयोजित इस कार्यक्रम में उनके अतिरिक्त प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री पुष्कर सिंह धामी जी एवं प्रदेश अध्यक्ष श्री कौशिक जी भी उपस्थित रहे।

इस अवसर पर कार्यक्रम की पृष्ठभूमि रखते हुए विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी ने कहा कि शांतिकुंज इस धरती पर दैवी चेतना की उपस्थिति का प्रतीक भी है और प्रमाण भी है। शांतिकुंज की स्थापना का उद्देश्य मनुष्य का भावनात्मक नवनिर्माण करना है; क्योंकि आंतरिक परिवर्तन के बिना कोई भी परिवर्तन स्थायी नहीं हो सकता। इस अवसर पर श्रद्धेय कुलाधिपति जी ने कहा कि हम देश की आध्यात्मिक चेतना को जागरूक करके भारतवर्ष की सांस्कृतिक आधारशिला को मजबूत करने का कार्य करेंगे।

कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित उत्तराखंड के मुख्यमंत्री श्री पुष्कर सिंह धामी जी ने कहा कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय संस्कृतिसंपन्न महामानवों के निर्माण की टकसाल है। उत्तराखंड को विश्व की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक राजधानी बनाने की संकल्पना को साकार करने में वे शांतिकुंज के साथ की अपेक्षा करते हैं।

इस क्रम में मुख्य अतिथि के रूप में अपना उद्बोधन देते हुए माननीय श्री शाह जी ने कहा कि शांतिकुंज की यह पावन धरती दशकों से करोड़ों गायत्री मंत्रों की गूँज से गुंजायमान है और उसके परिणामस्वरूप एक अद्भुत आध्यात्मिक चेतना को वे अनुभव कर पा रहे हैं। वे यह भी बोले कि गायत्री मंत्र हमारे शरीर की ग्रंथियों के जागरण का राजमार्ग है। यदि ये जाग्रत हो जाती हैं तो हमारा जीवन न केवल परिवर्तित होता है, अपितु सौभाग्यशाली भी बनता है।

माननीय श्री अमित शाह जी ने इस अवसर पर पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रदत्त नवयुग के संविधान को दोहराया और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों एवं शांतिकुंज के कार्यकर्त्ताओं को यह कहा कि वे अत्यंत सौभाग्यशाली हैं कि उन्हें यहाँ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। माननीय श्री अमित शाह जी ने इस विशिष्ट उद्बोधन के साथ विश्वविद्यालय परिसर में प्रतिष्ठित शौर्य दीवार पर पुष्पांजलि भी अर्पित की।

विशिष्ट अतिथियों के आगमन के इस क्रम में देव संस्कृति विश्वविद्यालय के इस प्रांगण में भारतीय नीति आयोग

के सदस्य एवं प्रधानमंत्री जी की सलाहकार परिषद् के प्रमुख, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री विवेक देवराय जी का आगमन हुआ। इस भेंट के क्रम में उनकी मुलाकात देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी से हुई, जिन्होंने उन्हें पूज्य गुरुदेव के दर्शन व विचारों से अवगत कराया। उल्लेखनीय है कि श्री देवराय जी को पद्मश्री सम्मान से विभूषित किया गया है एवं अर्थशास्त्र पर उनकी 100 से ज्यादा लिखी गई पुस्तकें प्रचलन में हैं। साथ ही भारतीय महाकाव्य महाभारत का अँगरेजी में अनुवाद करने वाले वे अब तक के तीसरे व्यक्ति हैं।

इसी क्रम में लिथुआनिया के राजदूत माननीय श्री जूलियस प्रेनेविसियस का आगमन भी देव संस्कृति विश्वविद्यालय में हुआ। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी के साथ अपनी भेंट के क्रम में उन्होंने भारत और लिथुआनिया के पारस्परिक संबंधों को और अधिक प्रगाढ़ करने की अपनी योजना पर चर्चा की। ज्ञातव्य है कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय के परिकर में एशिया का पहला और अकेला बाल्टिक शिक्षा एवं संस्कृति केंद्र स्थापित है, जिसका उद्देश्य दोनों देशों के मध्य समानताओं का अध्ययन करना और पारस्परिक संबंधों को प्रगाढ़ करना रहा है।

इस भेंट के उपरांत देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी एवं लिथुआनिया के राजदूत देहरादून जाकर उत्तराखंड के राज्यपाल माननीय श्री गुरमीत सिंह जी से मिले एवं उनके साथ मिलकर सभी योजनाओं के कुशल क्रियान्वयन हेतु चर्चा की। सभी ने कोविड-19 की महामारी के कारण उत्तराखंड पर्यटन क्षेत्र में आई चुनौतियों पर विचार-विमर्श किया और इस दिशा में द्विपक्षीय विकास करने पर जोर दिया।

प्रतिष्ठित व्यक्तियों के देव संस्कृति विश्वविद्यालय आगमन के अतिरिक्त विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के पुन: लौटने के साथ ही विभिन्न सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक गतिविधियाँ पूरे जोर-शोर के साथ प्रारंभ हो गईं। इस क्रम में विश्वविद्यालय के पर्यावरण विभाग द्वारा वन्यजीव सप्ताह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर पद्मश्री श्री कल्याण सिंह रावत जी का आगमन विश्वविद्यालय में हुआ। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री देवांगन जी द्वारा उनका भव्य स्वागत हुआ।

आयोजनों के इसी क्रम में देव संस्कृति विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के द्वारा विश्व मानसिक स्वास्थ्य दिवस पर एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। इस अवसर पर देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कुलपति आदरणीय श्री शरद पारधी जी एवं विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी भी उपस्थित रहे। अतिथि वक्ताओं के रूप में डॉ० रजनीश जैन एवं डॉ० प्रदीप खत्री उपस्थित हुए। कार्यक्रम का कुशल संचालन मनोविज्ञान विभाग के समन्वयक डॉ० संतोष विश्वकर्मा द्वारा किया गया।

इसी क्रम में देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कंप्यूटर विभाग द्वारा साइबर सिक्यूरिटी माह का आयोजन किया गया। इसके तहत विभिन्न गतिविधियों जैसे— प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता, कार्यशाला, नुक्कड़ नाटक, जनजागरूकता रैली इत्यादि का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम के समापन समारोह में विभिन्न गतिविधियों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को विशेष रूप से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर उपस्थित विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी ने विद्यार्थियों द्वारा किए गए प्रयासों को प्रासंगिक एवं सामयिक बताया और यह कहा कि वर्तमान परिस्थितियों में प्रत्येक जिम्मेदार नागरिक को साइबर सिक्यूरिटी की आधारभूत समझ होनी अनिवार्य है। इस अवसर पर कंप्यूटर विभाग की विभागाध्यक्षा डॉ० राजेश्वरी त्रिवेदी एवं विभाग के सभी आचार्यगण भी उपस्थित रहे।

आयोजनों के इसी क्रम में देव संस्कृति विश्वविद्यालय के एनिमेशन विभाग द्वारा अंतरराष्ट्रीय एनिमेशन दिवस मनाया गया। कार्यक्रम में विभाग के विद्यार्थियों द्वारा विलक्षण कलाकृतियाँ बनाई गईं। साथ ही विभाग के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों द्वारा तैयार 'पंचमहाभूत' नामक बोर्ड गेम का अनावरण किया गया। यह खेल प्रकृति के पाँच तत्त्वों और हस्तमुद्राओं पर आधारित है, जिसे विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के रूप में समझा जा सकता है। इस अवसर पर देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कुलपति आदरणीय श्री शरद पारधी जी, प्रतिकुलपति जी, विभाग की विभागाध्यक्षा सुश्री कावेरी बाली जी एवं एनिमेशन विभाग के समस्त आचार्यगण उपस्थित रहे। इस अवसर पर एनिमेशन दिवस पर आयोजित कार्यक्रमों में श्रेष्ठ स्थान पाने वाले विद्यार्थियों को पुरस्कृत भी किया गया।

गणमान्य अतिथियों के आगमन एवं विशिष्ट आयोजनों के क्रम के संपन्न होने के साथ ही देव संस्कृति विश्वविद्यालय द्वारा विगत दिनों अनेकों महत्त्वपूर्ण अनुबंधों को भी मूर्तरूप प्रदान किया गया। इस क्रम में पहला महत्त्वपूर्ण अनुबंध देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं ऋषिहुड विश्वविद्यालय, सोनीपत के मध्य हुआ। इस अनुबंध का मुख्य उद्देश्य शिक्षण एवं अनुसंधान के क्षेत्र में पारस्परिक हितों की गतिविधियों में संबंधित सूचनाओं के आदान-प्रदान में सहयोग करना है तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अनेकों परियोजनाओं को ध्यान में रखते हुए संयुक्त पाठ्यक्रमों को विकसित करना है।

ऋषिहुड विश्वविद्यालय के सीईओ श्री साहिल अग्रवाल जी ने इसे एक अविस्मरणीय क्षण करार देते हुए कहा कि हमारे विश्वविद्यालय का यह सौभाग्य रहा है कि देव संस्कृति विश्वविद्यालय का सहयोग हमें सदा प्राप्त होता रहा है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी इस विश्वविद्यालय के संरक्षक मंडल के सदस्य भी हैं एवं इस विश्वविद्यालय के विभिन्न अंतरराष्ट्रीय पाठ्यक्रमों को चलाने में देव संस्कृति विश्वविद्यालय हमेशा से मुख्य भूमिका निभाता रहा है।

एक ऐसा ही अनुबंध देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं फ्यूंडासिओ दे इंवेस्टिंगसिओ एस्ट्रोवेदिका दे चिली के मध्य किया गया। चिली दक्षिण अमेरिका का एक महत्त्वपूर्ण देश है और यह अनुबंध इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इस अनुबंध का उद्देश्य देव संस्कृति विश्वविद्यालय के माध्यम से वहाँ के विद्यार्थियों को यज्ञ एवं गायत्री मंत्र की साधनाओं को अपनाने हेतु प्रशिक्षण को प्रदान करना है। देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी ने इस अनुबंध पर हस्ताक्षर करते हुए इसे भारतीय संस्कृति के लिए एक अद्भुत क्षण घोषित किया।

इसी क्रम में एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण अनुबंध देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय—बर्मिंघम विश्वविद्यालय के मध्य किया गया। इस अनुबंध का उद्देश्य बर्मिंघम विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देना है। इस अनुबंध के तहत बर्मिंघम विश्वविद्यालय के 100 विद्यार्थी देव संस्कृति विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति हेतु प्रशिक्षण को प्राप्त करेंगे। इस अनुबंध पर हस्ताक्षर करते हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी एवं बर्मिंघम विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति डॉ० टिम जोन्स द्वारा इसे एक गौरवशाली क्षण उद्घोषित किया गया।

इसी तरह का एक महत्त्वपूर्ण अनुबंध देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं ग्लोबल नर्सिंग इंस्टिट्यूट के मध्य हुआ। इस अनुबंध के तहत नर्सिंग कॉलेज की छात्राएँ देव संस्कृति विश्वविद्यालय के कोविड केयर सेंटर एवं शांतिकुंज के जन्म शताब्दी चिकित्सालय में चिकित्सकीय अनुभव को प्राप्त कर सकेंगी। इस अनुबंध के तहत देव संस्कृति विश्वविद्यालय को प्रत्येक शैक्षणिक वर्ष में 20 नर्सिंग छात्राएँ प्राप्त होंगी, जिनको योग्य व अनुभवी प्रशिक्षकों के माध्यम से प्रशिक्षण प्रदान किया जाएगा। यह अनुबंध दोनों संस्थानों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा।

इस तरह से देव संस्कृति विश्वविद्यालय ने सामाजिक, आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक सभी आयामों में विद्यार्थियों एवं विश्वविद्यालय के सदस्यों के समग्र विकास हेतु ऐसी अनेकों गतिविधियों को विगत दिनों संपन्न किया, जो आने वाले दिनों में समस्त गायत्री परिवार के लिए मील का पत्थर सिद्ध होने वाली हैं। कोविड की चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों के बाद सफलता के सोपानों पर चढ़ना विश्वविद्यालय के लिए गौरवशाली रहा है। ❑

**बदरीनाथ धाम में सनत्कुमार आदि ऋषि साधनालीन थे। एक दिन देवर्षि नारद वहाँ पहुँचे। ऋषियों ने उन्हें चिंतित देखकर कारण पूछा। नारद जी बोले—''पृथ्वी लोक में भक्ति की उपेक्षा हो रही है। लोग भगवान को भूलकर सांसारिकता में घोर लिप्त हो गए हैं और कुमार्गगामी हो गए हैं।'' ऋषि बोले—''यह तो सचमुच चिंता का विषय है। आप धरती पर भगवन्नाम का प्रचार कीजिए, तभी इस समस्या का समाधान होगा।'' नारद जी मुनियों से यह समाधान जानकर धरती पर भगवन्नाम के प्रचार में लग गए। आज भी सांसारिकता में लिप्त मनुष्य जाति को स्वयं में भक्ति जगाने की आवश्यकता है।**

अपनों से अपनी बात

# समग्र एवं संपूर्ण जीवन का आधार है उच्च आदर्श

मनुष्य जीवन को असीम संभावनाओं और क्षमताओं से युक्त कहा गया है। '**यथा ब्रह्माण्डे तथैव पिण्डे**' के स्वर में इस जीवन की अनंत सामर्थ्य का गान हुआ है। इस धरती पर हजारों-लाखों की संख्या में प्राणि जातियों का जीवन मौजूद है, लेकिन केवल मनुष्य मात्र को ही इस सृष्टि को जानने एवं पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति करने में समर्थ माना गया है। मनुष्य होने के नाते हम सभी के लिए यह अत्यंत गौरव और सौभाग्य की बात है कि हम इस सृष्टि में विशिष्ट प्राणी हैं और अपरिमित शक्ति-सामर्थ्य के उत्तराधिकारी हैं।

परमपूज्य गुरुदेव ने भी कहा कि हम मनुष्यों का जीवन इस धरती पर राजकुमार की तरह है। परमसत्ता ने अपने प्रतिनिधि के रूप में हमें संसार में भेजा है और नर से नारायण बनने की दिव्य संभावना केवल और केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, परंतु हम मनुष्यों के जीवन का दूसरा प्रत्यक्ष पहलू यह भी है कि असीम संभावनाओं और अनंत सामर्थ्यों के ईश्वरीय अनुदान से सुसज्जित यह जीवन स्वार्थ, संकीर्णता, अहं, क्षुद्रता, अविवेकशीलता, भय, भ्रम, द्वंद्व, दुःख, विषाद आदि की जंजीरों में जकड़ा हुआ अभिशाप का पर्याय बनकर सामने आता है।

मानवीय कलेवर में से जिन दैवी गुणों का प्रस्फुटन होना चाहिए था, उनके स्थान पर पाशविक वृत्तियों का आधिपत्य हो जाना मानव अस्तित्व की सबसे बड़ी त्रासदी और दुर्भाग्य है। मनुष्य जीवन की यह कड़वी, परंतु वर्तमान की कठोर सच्चाई है कि वह चहुँओर मनुष्यों के बीच मनुष्यता को तरस रहा है। अपरिमित भौतिक चकाचौंध में खड़ा समाज का इनसान भीतर से रोता हुआ और बाहर से इनसानियत को तरसता नजर आता है।

इससे भी बड़ा दुःखद आश्चर्य तो यह है कि मनुष्य को मनुष्यता से जोड़ने के, जीवनमूल्यों से आपूरित करने के, आदर्शों-सिद्धांतों के साँचे में गढ़ने-ढालने के प्रयास विगत शताब्दियों से कहीं ज्यादा वर्तमान में दिखाई पड़ते हैं। लेकिन परिणाम-परिणति अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण और चिंताजनक निकलकर सामने आ रहे हैं। ऐसे में यह उत्तरदायित्व उन सभी के कंधों पर आ जाता है, जो मनुष्यमात्र के कल्याण, उत्थान और विकास की दिव्य प्रेरणा से पूरित-संकल्पित हैं और सतत प्रयासरत भी। आवश्यकता है कि इन प्रयासों की दिशा को परिवर्तित किया जाए और गहन समीक्षापूर्ण तरीके से समस्या के केंद्र में पहुँचकर समाधान के सार्थक उपायों की ओर मानवमात्र के जीवन को मोड़ने का पुरुषार्थ किया जाए।

हमारी दृष्टि में यह शुरुआत जीवन में सही आदर्श की खोज से होनी चाहिए। आदर्शों की डोर से बँधा जीवन कभी भी दिशाहीन एवं मूल्यहीन नहीं हो सकता है। आदर्श, फिर चाहे कोई व्यक्ति, व्यक्तित्व, विचार, सिद्धांत कुछ भी हों, परंतु आदर्श हों अवश्य; ताकि जीवन उनसे सतत प्रेरणा, पथ और प्रकाश प्राप्त करते हुए सही दिशा में आगे बढ़े, लेकिन आदर्श को पहचानें कैसे? सही आदर्श का चयन कैसे करें? तो ध्यान रहे कि आदर्श हमारे जीवन की पराकाष्ठा का पर्याय है। जितना ऊँचा, महान, पवित्र आदर्श होगा, उतना ही जीवन ऊँचाई पर पहुँच पाएगा।

जीवन की अपनी ही प्रकृति, प्रवृत्ति और गति है। इसमें जो, जब, जैसे बीज डालेंगे, उसी के अनुरूप परिणाम प्रस्तुत होंगे। घटिया और ओछे आदर्शों के बीज बोकर हम जीवन को कभी भी ऐसे उच्च विचारों और भावनाओं से नहीं जोड़ सकते, जहाँ से मानवीय गरिमा और गुण प्रकाशित होते हों। इसलिए आदर्श हमेशा बड़ा, महान, उच्च और श्रेष्ठतम ही चयन करना चाहिए।

आदर्श ऐसा हो, जो हमें जीवन की सही दिशा दे सके। जब भी हम विपरीतताओं, विषमताओं और संघर्षमय चुनौतियों के भँवर में फँसे हों, स्वयं को सब ओर से असहाय, बेबस से महसूस कर रहे हों, तब हमारा आदर्श ही एकमात्र वह शक्तिस्रोत होता है, जो हमें इन सारे अंतः-बाह्य झंझावातों से बाहर निकाल सकता है। इसलिए जीवन में आदर्श का स्थान अवश्य होना चाहिए और आदर्श भी ऐसा हो, जिस पर हमारा संपूर्ण विश्वास, अटूट आस्था और श्रद्धा-समर्पण

की भावना इतनी सुदृढ़ हो कि जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर जीवन भी उत्सर्ग किया जा सके।

आदर्श की छाँह में पोषित, आदर्श के प्रकाश से प्रकाशित जीवन ही संपूर्णता और समग्रता का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इसके साथ यह भी अनिवार्यता है कि आदर्श के चयन करने में स्वयं के जीवन का आकलन संपूर्णता और व्यापकता में किया जाए। जीवन के लिए लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, स्थूल और सूक्ष्म—सभी आयाम समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें से किसी एक की उपेक्षा-अवहेलना का तात्पर्य है अस्तित्व की सच्चाई को नकारना और आत्मघाती दिशा में कदम बढ़ाना। अतः ध्यान रहे आदर्श की विशालता में हमारे जीवन की व्यापकता का सहज समावेश संभव हो सके। आदर्श चयन की यह कसौटी उन लोगों के लिए भी है, जिन्होंने अपने जीवन को किसी आदर्श से जोड़ लिया है या किसी को आदर्श बनाकर चल रहे हैं।

सामान्यतया लोग कई बार अपने घर-परिवार के सदस्यों, परिचितों या टेलीविजन, फिल्म, खेल आदि से जुड़ी हस्तियों को अपना रोल मॉडल मानकर चलते हैं। इसमें कोई बुराई भी नहीं है। सत्प्रेरणाएँ जहाँ से मिलें, ग्रहण करने योग्य हैं, परंतु यह सदैव ध्यान रखा जाए कि इन प्रेरणाओं से बाहर भी जीवन का कोई हिस्सा छूट तो नहीं रहा है। जैसे यदि कोई क्रिकेट या कुश्ती जैसे किसी खेल में रुचि रखता है तो उस खेल के शिखरस्थ खिलाड़ियों से वह प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकता है, करना भी चाहिए, परंतु साथ में यह भी ध्यान रहे कि खेल-क्षेत्र के अलावा भी जीवन के आयाम हैं, जैसे—घर-परिवार, मित्र, समाज, राष्ट्र और सबसे अहम स्वयं का व्यक्तित्व, चिंतन, चरित्र और व्यवहार है।

ये सभी हमारे जीवन से जुड़े अनिवार्य पहलू हैं। इनकी उपेक्षा हम कदापि नहीं कर सकते और इनसे भी एक कदम आगे बढ़कर जीवन का आत्मिक विकास है। जीवन में आदर्श का मूल प्रयोजन इसी आत्मिक विकास की यात्रा को पूर्ण करना है। ऐसे में यदि हमारा आदर्श एकांगी, संकीर्ण एवं साधारण स्तर का है तो उसी अनुपात में हमारे जीवन की संभावनाएँ और विकास-प्रक्रिया सीमित हो जाते हैं।

आदर्श के समानांतर ही विचारों, कल्पनाओं और जीवन की ऊँचाई होती है। छोटे एवं ओछे आदर्श से ऊँचे एवं महान जीवन की कल्पना बेमानी है। सच्चे आदर्श में जीवन की संपूर्णता, व्यापकता और सर्वोच्चता की विशेषताएँ मौजूद होती हैं। अतः ध्यान रहे कि आदर्श हमारी जिंदगी का चरम बिंदु है। इसके बौने रहने से जिंदगी भी बौनी ही रह जाएगी, इसलिए आदर्श वही चयन किया जाए, उसे ही बनाया जाए, जो जिंदगी के शिखर पर पहुँचा हुआ हो।

सच्चे आदर्श का स्थान सर्वोपरि होता है। उसे हमारा हृदय संपूर्ण रूप से स्वीकार करता है, महसूस करता है। जीवन की उलझनों में, संघर्षों में वह हमारे लिए प्रकाशस्तंभ की भाँति कार्य करता है। जहाँ भी हम भटकते हैं, जब भी गिरते हैं, हमारा आदर्श ही हमें सँभालता है, उठाता है और आगे बढ़ाता है। एक श्रेष्ठ आदर्श की छाँह में ही हमारा जीवन मनुष्यता के गुणों से विभूषित होता है और व्यक्तित्व में उन मूल्यों को प्रकाशित होने का अवसर मिलता है, जिनसे सच्चे अर्थों में हम मनुष्य कहलाते हैं।

हमारे जीवन की नाव को सही दिशा में चलाने और अभीप्सित लक्ष्य तक पहुँचाने में आदर्शरूपी पतवार ही एकमात्र सहारा होती है। संसार के इस भवसागर में भाग्य, परिस्थितियों और संघर्षों के निरंतर उठते रहने वाले तूफानों-थपेड़ों से बाहर निकाल लाने की शक्ति-सामर्थ्य आदर्श में ही होती है। अतः इन बातों से आदर्श की महत्ता और उसके चयन की अनिवार्यता का बोध स्वतः हो जाता है।

मनुष्य का शरीर धारण कर जीवन में निकृष्टता, मूल्यहीनता, संकीर्णता, निरर्थकता और निराशा की दशा का समाज में निरंतर बढ़ते जाना आदर्शहीनता तथा ओछे आदर्शों का ही परिणाम माना जाना चाहिए। असीम संभावनाओं और क्षमताओं से युक्त जीवन की वर्तमान दशा-दिशा से तुलना की जाए तो घोर निराशा होती है। मानवीय विशेषताओं का पतन और पाशविक आसुरी प्रवृत्तियों का बढ़ते जाना संपूर्ण मानवता के लिए घातक है।

ऐसे में समाधान का समुचित मार्ग तलाशना और उस पर चल पड़ना प्रत्येक मनुष्य का आत्मिक कर्त्तव्य है। अपनी मानवीय काया में जिस आत्मा को लेकर वह पैदा हुआ है—उसे पूर्णता तक विकसित बनाना प्रत्येक मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा एवं प्रमुख कर्त्तव्य है। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति और स्वकर्त्तव्यपालन की क्षमता का स्रोत है—जीवन आदर्श।

आदर्श जितना महान होगा, उसी अनुपात में व्यक्ति के विचार, कल्पनाएँ और अंत:भाव पहुँचेंगे और जहाँ तक विचार एवं कल्पनाएँ पहुँचेंगी, वहीं तक जीवन की ऊँचाई होगी। अत: सावधान रहें। छोटा एवं ओछा आदर्श असीम व असीमित जीवन की संभावनाओं को सीमित व संकीर्ण बना देगा, इसलिए बड़े एवं महान आदर्श का चयन कीजिए, ताकि मनुष्य जीवन की अपरिमित शक्ति-सामर्थ्य संभावनाओं तक पहुँचना संभव हो सके और मनुष्य देह में मनुष्यता के प्रकाश से विश्व-समाज पुन: आलोकित हो उठे। ❑

**सुदीर्घकाल से योग-साधन का प्रयत्न कर रहे शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—"गुरुदेव! ईश्वरप्राप्ति के लिए कैसी पात्रता आवश्यक होती है?" गुरु ने सहज ही कह दिया—"वत्स! यदि तुम ईश्वरप्राप्ति की इच्छा रखते हो, तो वह तुम्हें अवश्य प्राप्त होगी।" शिष्य गुरु का मंतव्य नहीं समझ सका। शिष्य की अज्ञानता को भाँप गुरु ने जीवंत उदाहरण के आधार पर अपनी बात को स्पष्ट करने की योजना बनाई। प्रात:स्नान के उपक्रम हेतु वे दोनों नदी की ओर गए। गुरु ने शिष्य को आदेश दिया—"वत्स! डुबकी लगाओ।" गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते शिष्य ने डुबकी लगाई। जल के भीतर अभी वह गया ही था कि गुरु ने एकाएक उसके सिर को भीतर पकड़ लिया और जल में यथावत् डुबोए रखा। श्वास लेने को व्यग्र शिष्य ऊपर आने की चेष्टा करने लगा, किंतु गुरु उसके इस प्रयास में अवरोध बने कुछ क्षण वहीं खड़े रहे। बड़ी देर तक वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए जल से ऊपर आने का प्रयास करता थक गया, तब कहीं जाकर गुरु ने उसे छोड़ा। हाँफते हुए वह जल से बाहर निकला और हतप्रभ अवस्था में गुरु को देखने लगा। इससे पहले की वह कुछ बोलता, गुरु ने प्रसन्नचित्त मुद्रा में उससे पूछा—"वत्स! बताओ तो सही, तुम्हें जल के अंदर कैसा लग रहा था?" हड़बड़ाई स्थिति से सँभला शिष्य कहने लगा—"ओफ! एक श्वास लेने के लिए मेरा जी निकल रहा था।" गुरु ने अपनी बात आगे बढ़ाते पुन: प्रश्न किया—"क्या ईश्वर के लिए भी तुम्हारी इच्छा उतनी ही प्रबल है?" अपनी अवस्था को कुछ देर विचार कर शिष्य ने उत्तर दिया—"नहीं गुरुदेव।" शिष्य के नैराश्य भाव को तिरोहित करते गुरुदेव ने कहा—"वत्स! ईश्वरप्राप्ति के लिए भी तुम्हारे भीतर वैसी ही उत्कट इच्छा होनी चाहिए, जैसी कि अभी प्राणों के लिए थी और तब ही तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे।" शिष्य को अपनी असफलता का कारण और ईश्वरप्राप्ति का उपाय प्राप्त हो गया। गुरुदेव का आशीष प्राप्त कर वह पुन: सच्ची लगन के साथ साधना में तल्लीन हो गया।**

# अभिनव वसंत

वासंती वैभव के निर्झर 'दादागुरु'! नमन है।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

वासंती अनुदान बरसते 'प्रकृति' पुलकने लगती।
और 'चेतना' नई उमंगें लिए हुलसने लगती॥
तभी प्राण में लहरा उठता, नूतन स्पंदन है।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

वासंती अनुदानों को ले, फिर वसंत आया है।
कुछ विशेष, उज्ज्वल भविष्य के संदेशे लाया है॥
मानव के चिंतन-चरित्र में होना परिवर्तन है।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

अब जनमानस आंदोलित है, पतझर की पीड़ा से।
ऊब रहा है उसका मानस, भोगों की कारा से॥
मुक्ति चाहता अब बंधन से, जनमानस का मन है।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

गुरुवर! हमको इस वसंत पर, 'वासंती' कर देना।
पतझर पीड़ित मानवताहित, संवेदन भर देना॥
जनमानस आश्वस्त हो उठे 'नवयुग-अभिनंदन है'।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

'वासंती बाना' पहिना है, उसकी शान रखेंगे।
और आपकी वासंती गरिमा का मान रखेंगे॥
आज समर्पित 'युगवसंत' को वासंती जीवन है।
'युगवसंत' के शिल्पी सद्‌गुरु को शत-शत वंदन है॥

*—मंगलविजय 'विजयवर्गीय'*

▶'नारी सशक्तीकरण' वर्ष◀
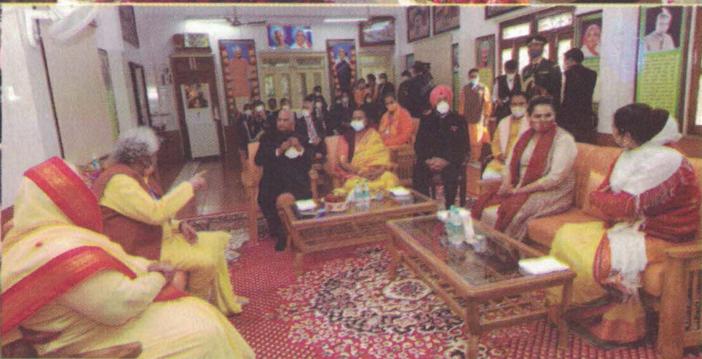
शांतिकुंज स्वर्ण जयंती वर्ष में माननीय राष्ट्रपति श्री राम नाथ कोविन्द का देव संस्कृति विश्वविद्यालय एवं युगतीर्थ शांतिकुंज में शुभागमन एवं श्रद्धेयद्वय से भेंट-परामर्श

**अखण्ड ज्योति**
(मासिक)
R.N.I. No. 2162/52

प्र. ति. 01.01.2022
Regd. N0. Mathura-025/2021-2023
Licensed to Post without Prepayment
N0. : Agra/WPP-08/2021-2023

प्रख्यात कथावाचक संतपुरुष सुधान्शु जी महाराज का युगतीर्थ में आगमन एवं ऋषियुग्म के पावन प्रतीकों पर श्रद्धासुमन अर्पण
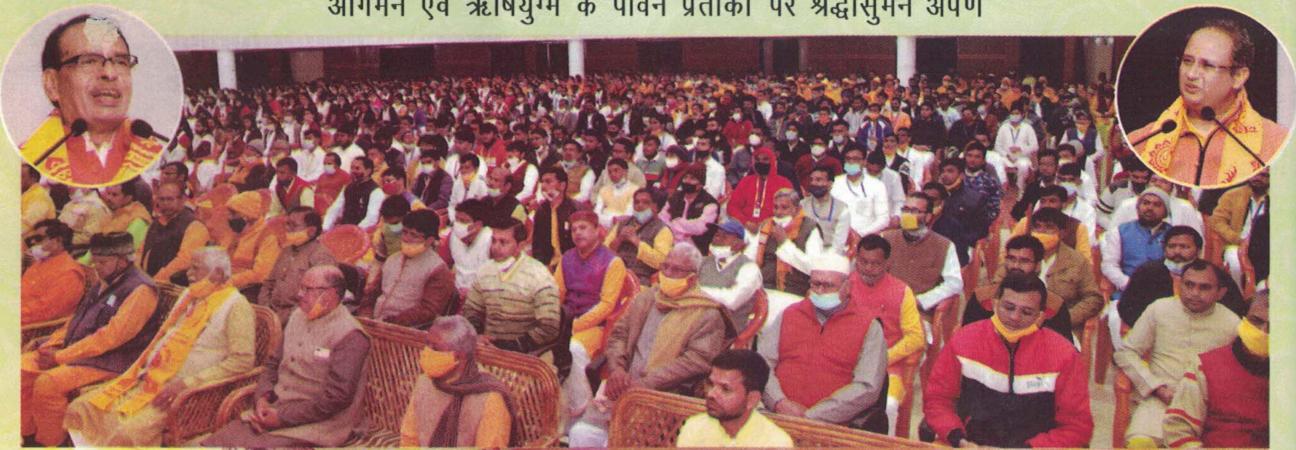
'शांतिकुंज स्वर्ण जयंती व्याख्यानमाला' के अंतर्गत माननीय श्री शिवराज सिंह चौहान, मुख्यमंत्री (मध्य प्रदेश) द्वारा देव संस्कृति विश्वविद्यालय में उद्‌बोधन एवं श्रद्धेयद्वय से भेंट–परामर्श

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक – मृत्युंजय शर्मा द्वारा जनजागरण प्रेस, बिरला मंदिर के सामने, जयसिंहपुरा, मथुरा से मुद्रित व अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामंडी, मथुरा–281003 से प्रकाशित। संपादक – डॉ. प्रणव पण्ड्या।
दूर भाष–0565-2403940, 2402574 2412272, 2412273 मो बा.–09927086291, 07534812036, 07534812037, 07534812038, 07534812039
ईमेल– akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org